द्वितीय संस्करण : १९४९
तृतीय संस्करण : १९५५

मूल्य ३)

मुद्रक—ललताप्रसाद, ज्योति प्रेस, मध्यमेश्वर, बनारस।

अनुक्रम

यह मेरी मातृभूमि है

आज पूरे ६० वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि—प्यारी मातृभूमि के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से बिदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचारित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और क़ानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे सो करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ ख़ूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी ख़ूब पैदा किया तथा धन से आनन्द भी ख़ूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य मे अपनी सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुन्दरता की ख्याति तमाम अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुञ्जायश भी न थी, जिसका सम्बन्ध मुझसे न हो, मैं उस पर तन-मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हें-नन्हें पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अन्तिम दर्शन करने को पैर उठाये। मैंने अनन्त धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हें-नन्हें बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसीलिए परित्याग कर दिये कि मैं प्यारी भारत-जननी का अन्तिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ; दस वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाक़ी है कि मैं अपनी मातृभूमि का रजकण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय

भी थी जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी। और जब कि मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा सा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी, मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रह कर मातृभूमि के टूटे फूटे झोपड़े, चार छै बीघा मौरूसी जमीन और बालपन के लँगोटिया यारों की याद अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनन्दोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि "यदि मैं अपने देश में होता तो . . !"

(२)

जिस समय मैं बम्बई में जहाज से उतरा, मैंने पहिले काले काले कोट पतलून पहिने टूटी फूटी अँग्रेजी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँग्रेजी दूकानें, ट्राम और मोटरगाड़ियाँ दीख पड़ीं। इसके बाद रबरटायरवाली गाड़ियों की और मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन देखा। बाद मैं रेल में सवार होकर हरी हरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों में आँसू भर आये और मैं ख़ूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था! यह अमेरिका या इङ्गलैण्ड था, मगर प्यारा भारत नहीं था।

रेलगाड़ी जङ्गलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के पास पहुँची, जो किसी समय में फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग की होड़ कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था— अब अपना प्यारा घर देखूँगा,—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिल्कुल भूल गया था कि मैं ९० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग शीघ्र शीघ्र उठते थे और हृदय में अकथनीय आनन्द का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृ

डालता। अहा! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे; किन्तु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे। सामने एक बँगला था, जिसमें दो अंग्रेज़ बन्दूकें लिये इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किन्तु शोक! वे सब के सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोंपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफिक्री के आनन्द लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

यह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते दृष्टि आते थे, जो अदालत कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे, उनके मुखों से चिन्ता, निर्जीविता और उदासी प्रदर्शित होती थी और वे सब सांसारिक चिन्ताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल तथा कान्तिहीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक फटे कपड़े पहिने बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा कि "नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।"

बरगद के पेड़ की ओर मैं दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनन्द उड़ाये थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ास्थल और युवावस्था का सुखप्रद वासस्थान था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और दिल में महान शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःखदायक तथा हृदय विदारक स्मृतियाँ ताजी हो गयीं कि घण्टों पृथ्वी पर बैठे बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हाँ! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी झूला थीं और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे, मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिया यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे,

कहाँ गये ! हाय, मैं बिना घरबार का मुसाफिर अब अकेला ही हूँ ! क्या मेरा कोई भी साथी नहीं ! इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफ़ा बाँधे बैठा था। उसके आस पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले करबद्ध खड़े थे ! वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहिने, दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष, जिसपर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, कोई और देश है। यह योरोप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं है।

(२)

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिता जी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाजियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपञ्च सदा पिता जी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँवभर की गायें रखी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक ! कि अब उस चौपाल का पता तक न था। वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी और गुड़ की सुगन्ध से मस्तिष्क पूर्ण हो जाता था। हम और हमारे साथी वहाँ गंडेरियों के लिए बैठे रहते और गंडेरियाँ करनेवाले मजदूरों के हस्तलाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हजारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था और वहाँ आस पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के त्यों खड़े थे, किंतु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तम्बोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने दुःखित हृदय से, एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—"महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ। रात भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा ?" इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और

कहने लगा कि "आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ से भी यही उत्तर मिला कि "आगे जाओ।" पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा कि "हाय! यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारकारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिबिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा कि अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ; मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! धर्मशाला ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किंतु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिए स्थान न था। मदिरा, दुराचार और द्यूत ने उसे अपना घर बना रखा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा कि नहीं, नहीं, नहीं और हज़ार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और देश है। यह योरोप है, अमेरिका है; मगर भारत कदापि नहीं है।

(४)

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने-अपने कर्कश स्वर में उच्चारण कर रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा—अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ। अब तक मेरी मातृभूमि थी। मैं विदेश में ज़रूर था, किन्तु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी; पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रखे मौन रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। घंटेवाले ने तीन बजाये और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्‌गद् हो गया कि यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है। मैं तुरन्त उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि १५-२० वृद्धा स्त्रियाँ,

सफ़ेद धोतियाँ पहिने, हाथों में लोटे लिये स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं —

"हमारे प्रभु, अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों की बोलचाल सुन पड़ी। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमण्डलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गङ्गे गङ्गे, नारायण नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। आनन्द दायक और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की चञ्चल से-चञ्चल और प्रसन्न-से-प्रसन्न चित्तवाली लावण्यवती स्त्रियों की आवाज सुनी था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, हृदयाकर्षक वचनों का आनन्द उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किन्तु जो आनन्द, जो मजा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु, अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनन्दातिरेक से मेरा हृदय आनन्दमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित पावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिन्दू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गङ्गा मेरे प्यारे गाँव से छै सात मील पर बहती थीं। किसी समय में घोड़े पर चढ़कर गङ्गा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हजारों मनुष्यों को इस ठण्डे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री मन्त्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में सलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेद मंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं जोर से कह उठा—"हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ

भारत है और इसी के दर्शनो की मेरी उत्कट इच्छा थी तथा इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।"

(५)

मैं विशेष आनन्द में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गङ्गा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन-भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद सन्ध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला आये और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गङ्गा मेरी माता है।

मैंने ठीक गङ्गा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-साय गंगास्नान करता हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गङ्गा माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं; मगर अब मैं यह गङ्गा माता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गङ्गाजी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि मे ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

———

राजा हरदौल

बुन्देलखण्ड में ओरछा पुराना राज्य है। इसके राजा बुन्देले हैं। इन बुन्देलों ने पहाड़ों की घाटियों में अपना जीवन बिताया है। एक समय ओरछे के राजा जुझारसिंह थे। ये बड़े साहसी और बुद्धिमान थे। शाहजहाँ उस समय दिल्ली के बादशाह थे। जब शाहजहाँ लोदी ने बलवा किया और वह शाही मुल्क को लूटता-पाटता ओरछे की ओर आ निकला, तब राजा जुझारसिंह ने उससे मोरचा लिया। राजा के इस काम से गुणग्राही शाहजहाँ बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरन्त ही राजा को दक्खिन का शासन-भार सौंपा। उस दिन ओरछे में बड़ा आनंद मनाया गया। शाही दूत खिलअत और सनद लेकर राजा के पास आया। जुझारसिंह को बड़े-बड़े काम करने का अवसर मिला। सफ़र की तैयारियाँ होने लगीं, तब राजा ने अपने छोटे भाई हरदौलसिंह को बुलाकर कहा—"भैया, मैं तो जाता हूँ। अब यह राज-पाट तुम्हारे सुपुर्द है। तुम भी इसे जी से प्यार करना। न्याय ही राजा का सबसे बड़ा सहायक है। न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता, चाहे वह रावण की सेना या इन्द्र का बल लेकर आये, पर न्याय वही सच्चा है, जिससे प्रजा भी न्याय समझे। तुम्हारा काम केवल न्याय ही करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी दिलाना होगा और मैं तुम्हें क्या समझाऊँ, तुम स्वयं समझदार हो।"

यह कहकर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी और हरदौलसिंह के सिर पर रख दी। हरदौल रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया। इसके बाद राजा अपनी रानी से विदा होने के लिए रनवास आये। रानी दरवाजे पर खड़ी रो रही थी। उन्हें देखते ही पैरों पर गिर पड़ी। जुझारसिंह ने उठाकर उसे छाती से लगाया और कहा, "प्यारी, यह रोने का समय नहीं है। बुन्देलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसर पर रोया नहीं करतीं। ईश्वर ने चाहा, तो हम-तुम जल्द मिलेंगे। मुझपर ऐसी ही प्रीति रखना। मैंने राज-पाट हरदौल को सौंपा है, वह अभी

लड़का है। उसने अभी दुनिया नहीं देखी है। अपनी सलाहों से उसकी मदद करती रहना।"

रानी की ज़बान बन्द हो गयी। अब अपने मन में कहने लगी, "हाय यह कहते हैं, बुन्देलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसर पर रोया नहीं करतीं। शायद उनके हृदय नहीं होता, या अगर होता है तो उसमें प्रेम नहीं होता!" रानी कलेजे पर पत्थर रखकर आँसू पी गयी और हाथ जोड़कर राजा की ओर मुस्कराती हुई देखने लगी; पर क्या वह मुस्कराहट थी। जिस तरह अँधेरे मैदान में मसान की रोशनी अँधेरे को और भी अथाह कर देती है, उसी तरह रानी की मुस्कराहट उसके मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी।

जुझारसिंह के चले जाने के बाद हरदौलसिंह राज करने लगा। थोड़े ही दिनों में उसके न्याय और प्रजा-वात्सल्य ने प्रजा का मन हर लिया। लोग जुझारसिंह को भूल गये। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी; पर हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र ही थे। वह ऐसा हँसमुख और मधुरभाषी था कि उससे जो बातें कर लेता, वही जीवन-भर उसका भक्त बना रहता। राज-भर में ऐसा कोई न था जो उसके पास तक न पहुँच सकता हो। रात-दिन उसके दरबार का फाटक सबके लिए खुला रहता था। ओरछे को कभी ऐसा सर्वप्रिय राजा नसीब न हुआ था। वह उदार था, न्यायी था, विद्या और गुण का ग्राहक था; पर सबसे बड़ा गुण जो उसमें था, वह उसकी वीरता थी। उसका वह गुण हद दर्जे को पहुँच गया था। जिस जाति के जीवन का अवलम्ब तलवार पर है, वह अपने राजा के किसी गुण पर इतना नहीं रीझती जितना उसकी वीरता पर। हरदौल अपने गुणों से अपनी प्रजा के मन का भी राजा हो गया, जो मुल्क और माल पर राज करने से भी कठिन है। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। उधर दक्खिन में जुझारसिंह ने अपने प्रबंध से चारों ओर शाही दबदबा जमा दिया, इधर ओरछे में हरदौल ने प्रजा पर मोहन-मन्त्र फूँक दिया।

(२)

फाल्गुन का महीना था, अबीर और गुलाल से जमीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था। रबी ने खेतों में सुनहला फर्श

बिछा रखा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिये थे। सन्तोष इस सुनहले फर्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिन्तता इस सुनहले महल में तानें अलाप रही थी। इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फेकैत क़ादिर खाँ ओरछे आया। बड़े-बड़े पहलवान उसका लोहा मान गये थे। दिल्ली से ओरछे तक सैकड़ों मर्दानगी के मद से मतवाले उसके सामने आये, पर कोई उससे जीत न सका। उससे लड़ना भाग्य से नहीं, बल्कि मौत से लड़ना था। वह किसी इनाम का भूखा न था। जैसा ही दिल का दिलेर था, वैसा ही मन का राजा था। ठीक होली के दिन उसने धूम-धाम से ओरछे में सूचना दी कि 'खुदा का शेर दिल्ली का कादिरखाँ ओरछे आ पहुँचा है। जिसे अपनी जान भारी हो, आकर अपने भाग्य का निपटारा कर ले।' ओरछे के बड़े-बड़े बुन्देले सूरमा यह घमण्ड-भरी वाणी सुनकर गरम हो उठे। फाग और डफ की तान के बदले ढोल की वीर-ध्वनि सुनायी देने लगी। हरदौल का अखाड़ा ओरछे के पहलवानों और फेकैतों का सबसे बड़ा अड्डा था। सन्ध्या को यहाँ सारे शहर के सूरमा जमा हुए। कालदेव और भालदेव बुन्देलों की नाक थे, सैकड़ों मैदान मारे हुए। वे ही दोनों पहलवान क़ादिर खाँ का घमण्ड चूर करने के लिए गये।

दूसरे दिन किले के सामने तालाब के किनारे बड़े मैदान में ओरछे के छोटे-बड़े सभी ज । हुए। कैसे कैसे सजीले अलबेले जवान थे,—सिर पर खुशरङ्ग बाँकी पगड़ी, माथे पर चन्दन का तिलक, आँखों में मर्दानगी का सरूर, कमरों में तलवार। और कैसे कैसे बूढ़े थे,—तनी हुई मूछें, सादी पर तिरछी पगड़ी, कानों में बँधी हुई दाढ़ियाँ, देखने में तो बूढ़े, पर काम में जवान, किसी को कुछ न समझनेवाले। उनकी मर्दाना चाल ढाल नौजवानों को लजाती थीं। हर एक के मुँह से वीरता की बातें निकल रही थीं। नौजवान कहते थे—देखें, आज ओरछे की लाज रहती है या नहीं। पर बूढ़े कहते—ओरछे की हार कभी नहीं हुई, न होगी। वीरों का यह जोश देखकर राजा हरदौल ने बड़े जोर से कह दिया—"खबरदार, बुन्देलों की लाज रहे या न रहे, पर उनकी प्रतिष्ठा में बल न पड़ने पाये—यदि किसी ने औरों को यह कहने का अवसर दिया कि ओरछेवाले तलवार से न जीत सके तो धाँधली कर बैठे, वह अपने को जाति का शत्रु समझे।"

सूर्य निकल आया था। एकाएक नगाड़े पर चोब पड़ी और आशा तथा भय ने लोगों के मन को उछालकर मुँह तक पहुँचा दिया। कालदेव और कादिरखाँ दोनों लँगोटा कसे शेरों की तरह अखाड़े में उतरे और गले मिल गये। तब दोनों तरफ़ से तलवारें निकलीं और दोनों के बगलों में चली गयीं। फिर बादल के दो टुकड़ों से बिजलियाँ निकलने लगीं। पूरे तीन घण्टे तक यही मालूम होता रहा कि दो अगारे हैं। हज़ारों आदमी खड़े तमाशा देख रहे थे और मैदान में आधी रात का-सा सन्नाटा छाया था। हाँ, जब कभी कालदेव गिरहदार हाथ चलाता या कोई पेंचदार वार बचा जाता, तो लोगों की गर्दन आप-ही-आप उठ जातीं; पर किसी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता था। अखाड़े से अन्दर तलवारों की खींच-तान थी; पर देखनेवालों के लिए अखाड़े से बाहर मैदान में इससे भी बढ़कर तमाशा था। बार-बार जातीय प्रतिष्ठा के विचार से मन के भावों को रोकना और प्रसन्नता या दुःख का शब्द मुँह से बाहर न निकलने देना तलवारों के वार बचाने से अधिक कठिन काम था। एकाएक कादिरख़ाँ 'अल्लाहो-अकबर' चिल्लाया, मानों बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी।

कालदेव के गिरते ही बुन्देलों को सब्र न रहा। हर एक के चेहरे पर निर्बल क्रोध और कुचले हुए घमण्ड की तस्वीर खिंच गयी। हज़ारों आदमी जोश में आकर अखाड़े की ओर दौड़े, पर हरदौल ने कहा—ख़बरदार! अब कोई न बढ़े। इस आवाज़ ने पैरों के साथ जंजीर का काम किया। दर्शकों को रोककर जब वे अखाड़े में गये और कालदेव को देखा, तो आँखों में आँसू भर आये। ज़ख़मी शेर जमीन पर तड़प रहा था। उसके जीवन की तरह उसकी तलवार के दो टुकड़े हो गये थे।

आज का दिन बीता, रात आयी; पर बुन्देलों की आँखों में नींद कहाँ! लोगों ने करवटें बदलकर रात काटी। जैसे दुःखित मनुष्य विकलता से सुबह की बाट जोहता है, उसी तरह बुन्देले रह-रहकर आकाश की तरफ़ देखते और उसकी धीमी चाल पर झुँझलाते थे। उनके जातीय घमण्ड पर गहरा घाव लगा था। दूसरे दिन ज्यों ही सूर्य निकला, तीन लाख बुन्देले तालाब के किनारे पहुँचे। जिस समय भालदेव शेर की तरह अखाड़े की तरफ़ चला, दिलों में

लोग अखाड़े के पास पहुँचे तो देखा कि अखाड़े में बिजलियाँ-सी चमक रही हैं। बुन्देलों के दिलों पर उस समय जैसी बीत रही थी, उसका अनुमान करना कठिन है। उस समय उस लम्बे चौड़े मैदान में जहाँ तक निगाह जाती थी, आदमी ही आदमी नजर आते थे; पर चारों तरफ सन्नाटा था। हरएक आँख अखाड़े की तरफ़ लगी हुई थी और हरएक का दिल हरदौल की मगल कामना के लिए ईश्वर का प्रार्थी था। क़ादिरखाँ का एक एक वार हजारों दिलों के टुकड़े कर देता था और हरदौल की एक-एक काट से मनों में आनन्द की लहरें उठती थीं। अखाड़े में दो पहलवानों का सामना था और अखाड़े के बाहर आशा और निराशा का। आखिर घड़ियाल ने पहला पहर बजाया और हरदौल की तलवार बिजली बनकर क़ादिर के सिर पर गिरी। यह देखते ही बुन्देले मारे आनन्द के उन्मत्त हो गये। किसी को किसी की सुधि न रही। कोई किसी से गले मिलता, कोई उछलता और कोई छलाँगें मारता था। हजारों आदमियों पर वीरता का नशा छा गया। तलवारें स्वय म्यान से निकल पड़ीं, भाले चमकने लगे। जीत की ख़ुशी में सैकड़ों जानें भेंट हो गयीं। पर जब हरदौल अखाड़े से बाहर आये और उन्होंने बुन्देलों की ओर तेज निगाहों से देखा तो आन की-आन में लोग सँभल गये। तलवारें म्यान में जा छिपीं। खयाल आ गया। यह ख़ुशी क्यों यह उमग क्यों, और यह पागलपन किसलिए? बुन्देलों के लिए यह कोई नयी बात नहीं हुई। इस विचार ने लोगों का दिल ठण्डा कर दिया। हरदौल की इस वीरता ने उसे हरएक बुन्देले के दिल में मानप्रतिष्ठा की ऊँची जगह पर बिठाया, जहाँ न्याय और उदारता भी उसे न पहुँचा सकती थी। वह पहले ही से सर्वप्रिय था और अब वह अपनी जाति का वीरवर और बुन्देला दिलावरी का सिरमौर बन गया।

(३)

राजा जुझारसिंह ने भी दक्षिण में अपनी योग्यता का परिचय दिया। वे केवल लड़ाई में ही वीर न थे, बल्कि राज्य शासन में भी अद्वितीय थे। उन्होंने अपने सुप्रबन्ध से दक्षिण प्रान्तों को बलवान् राज्य बना दिया और वर्ष भर के बाद बादशाह से आज्ञा लेकर वे ओरछे की तरफ़ चले। ओरछे की याद उन्हें सदैव बेचैन करती रही। आह ओरछा! वह दिन कब आयेगा कि फिर

तेरे दर्शन होंगे। राजा मंजिलें मारते चले आते थे, न भूख थी, न प्यास, ओरछेवालों की मुहब्बत खींचे लिये आती थी। यहाँ तक कि ओरछे के जगलों में आ पहुँचे। साथ के आदमी पीछे छूट गये। दोपहर का समय था। धूप तेज़ थी। वे घोड़े से उतरे और एक पेड़ की छाँह में जा बैठे। भाग्यवश आज हरदौल भी जीत की ख़ुशी में शिकार खेलने निकले थे। सैकड़ों बुन्देला सरदार उनके साथ थे। सब अभिमान के नशे में चूर थे। उन्होंने राजा जुझारसिंह को अकेले बैठे देखा, पर वे अपने घमड में इतने डूबे हुए थे कि इनके पास तक न आये। समझा कोई यात्री होगा। हरदौल की आँखों ने भी धोखा खाया। वे घोड़े पर सवार अकड़ते हुए जुझारसिंह के सामने आये और पूछना चाहते थे कि तुम कौन हो कि भाई से आँख मिल गयी। पहचानते ही घोडे से कूद पड़े और उनको प्रणाम किया। राजा ने भी उठकर हरदौल को छाती से लगा लिया; पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी, और वह केवल इसीलिए कि हरदौल दूर से नगे पैर उनकी तरफ़ न दौड़ा, उसके सवारों ने दूर ही से उनकी अभ्यर्थना न की। संध्या होते-होते दोनों भाई ओरछे पहुँचे। राजा के लौटने का समाचार पाते ही नगर में प्रसन्नता की दुंदुभी बजने लगी। हर जगह आनन्दोत्सव होने लगा और तुरता-फुरती सारा शहर जगमगा उठा।

आज रानी-कुलीना ने अपने हाथों भोजन बनाया। नौ बजे होंगे। लौंडी ने आकर कहा—महाराज, भोजन तैयार है। दोनों भाई भोजन करने गये। सोने के थाल में राजा के लिए भोजन परोसा गया और चाँदी के थाल में हरदौल के लिए। कुलीना ने स्वय भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे और स्वय ही सामने लायी थी; पर दिनों का चक्र कहो, या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चाँदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया, वह वर्ष भर से सोने के थाल में खाते-खाते उसका आदी हो गया था; पर जुझारसिंह तलमला गये। जबान से कुछ न बोले; पर तीवर बदल गये और मुँह लाल हो गया। रानी की तरफ़ घूमकर देखा और भोजन करने लगे। पर ग्रास विष मालूम होता था। दो-चार ग्रास खाकर उठ आये। रानी उनके तीवर देखकर डर गयी। आज कैसे प्रेम से उसने

भोजन बनाया था, कितनी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन आया था, उसके उल्लास का कोई पारावार न था, पर राजा के तीवर देखकर उसके प्राण सूख गये। जब राजा उठ गये और उसने थाल को देखा, तो कलेजा धक् से हो गया और पैरों तले से मिट्टी निकल गयी। उसने सिर पीट लिया—ईश्वर ! आज रात कुशलतापूर्वक कटे, मुझे शकुन अच्छे दिखाई नहीं देते।

राजा जुझारसिंह शीश महल में लेटे। चतुर नाइन ने रानी का शृङ्गार किया और वह मुस्कुराकर बोली—कल महाराज से इसका इनाम लूँगी। यह कहकर वह चली गयी, परन्तु कुलीना वहाँ से न उठी। वह गहरे सोच में पड़ी हुई थी। उनके सामने कौन सा मुँह लेकर जाऊँ ? नाइन ने नाहक मेरा शृङ्गार कर दिया। मेरा शृङ्गार देखकर वे ख़ुश भी होंगे ? मुझसे इस समय अपराध हुआ है, मैं अपराधिनी हूँ, मेरा उनके पास इस समय बनाव-शृङ्गार करके जाना उचित नहीं, नहीं, आज मुझे उनके पास भिखारिनी के भेष में जाना चाहिए। मैं उनसे क्षमा माँगूँगी। इस समय मेरे लिए यही उचित है। यह सोचकर रानी बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गयी। वह अप्सरा सी मालूम होती थी। सुन्दरता की कितनी ही तसवीरें उसने देखी थीं, पर उसे इस समय शीशे की तसवीर सबसे ज्यादा खूबसूरत मालूम होती थी।

सुन्दरता और आत्मरुचि का साथ है। हल्दी बिना रङ्ग के नहीं रह सकती। थोड़ी देर के लिए कुलीना सुन्दरता के मद से फूल उठी। वह तनकर खड़ी हो गयी। लोग कहते हैं कि सुन्दरता में जादू है और वह जादू, जिसका कोई उतार नहीं। धर्म और कर्म, तन और मन सब सुन्दरता पर न्यौछावर है। मैं सुन्दर न सही ऐसी कुरूपा भी नहीं हूँ। क्या मेरी सुन्दरता में इतनी भी शक्ति नहीं है कि महाराज से मेरा अपराध क्षमा करा सके ? ये बाहु-लताएँ जिस समय उनके गले का हार होंगी, ये आँखें जिस समय प्रेम के मद से लाल होकर देखेंगी, तब क्या मेरे सौन्दर्य की शीतलता उनकी क्रोधाग्नि को ठंढा न कर देगी ? पर थोड़ी देर में रानी को ज्ञान हुआ। आह ! यह मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ ! मेरे मन में ऐसी बातें क्यों आती हैं। मैं अच्छी हूँ या बुरी हूँ, उनकी चेरी हूँ। मुझसे अपराध हुआ है, मुझे उनसे क्षमा माँगनी चाहिए। यह शृङ्गार और बनाव इस समय उपयुक्त नहीं है। यह सोचकर रानी ने सब गहने उतार

दिये। इतर में बसी हुई रेशम की साड़ी अलग कर दी। मोतियों से भरी माँग खाल दी और वह .खूब फूट-फूटकर रोई। हाय! यह मिलाप की रात वियोग की रात से भी विशेष दुखःदायिनी है। भिखारिनी का भेष बनाकर रानी शीश-महल की ओर चली। पैर आगे बढ़ते थे, पर मन पीछे हटा जाता था। दरवाजे तक आयी, पर भीतर पैर न रख सकी। दिल धड़कने लगा। ऐसा जान पड़ा मानों उसके पैर थर्रा रहे हैं। राजा जुझारसिंह बोले "कौन है?—कुलीना! भीतर क्यों नहीं आ जातीं?"

कुलीना ने जी कड़ा करके कहा—महाराज, कैसे आऊँ? मैं अपनी जगह क्रोध को बैठा पाती हूँ।

राजा—यह क्यों नहीं कहतीं कि मन दोषी है, इसीलिए आँखें नहीं मिलने देता!

कुलीना—निस्सन्देह मुझसे अपराध हुआ है, पर एक अबला आपसे क्षमा का दान माँगती है।

राजा—इसका प्रायश्चित्त करना होगा।

कुलीना—क्योंकर?

राजा—हरदौल के .खून से।

कुलीना सिर से पैर तक काँप गयी। बोली—क्या इसीलिए कि आज मेरी भूल से ज्योनार के थालों में उलट-फेर हो गया?

राजा—नहीं, इसलिए कि तुम्हारे प्रेम में हरदौल ने उलट-फेर कर दिया। जैसे आग की आँच से लोहा लाल हो जाता है, वैसे ही रानी का मुँह लाल हो गया। क्रोध की अग्नि सद्भावों को भस्म कर देती है, प्रेम और प्रतिष्ठा, दया और न्याय सब जल के राख हो जाते हैं। एक मिनट तक रानी को ऐसा मालूम हुआ, मानो दिल और दिमाग दोनों खौल रहे हैं; पर उसने आत्मदमन की अन्तिम चेष्टा से अपने को सँभाला, केवल इतना बोली—हरदौल को मैं अपना लड़का और भाई समझती हूँ।

राजा उठ बैठे और कुछ नर्म स्वर से बोले—नहीं, हरदौल लड़का नहीं है, लड़का मैं हूँ, जिसने तुम्हारे ऊपर विश्वास किया। कुलीना, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मुझे तुम्हारे ऊपर घमंड था। मैं समझता था, चाँद-सूर्य टल

सकते हैं, पर तुम्हारा दिल नहीं टल सकता, पर आज मुझे मालूम हुआ कि वह मेरा लड़कपन था। बड़ों ने सच कहा है कि स्त्री का प्रेम पानी की धार है, जिस ओर ढाल पाता है, उधर ही बह जाता है। सोना ज्यादा गर्म होकर पिघल जाता है।

कुलीना रोने लगी। क्रोध की आग पानी बनकर आँखों से निकल पड़ी। जब आवाज वश में हुई तो बोली—मैं आपके इस सन्देह को कैसे दूर करूँ?

राजा—हरदौल के खून से।

रानी—मेरे खून से दाग न मिटेगा?

राजा—तुम्हारे खून से और पक्का हो जायगा।

रानी—और कोई उपाय नहीं है?

राजा—नहीं।

रानी—यह आपका अन्तिम विचार है?

राजा—हाँ, यह मेरा अन्तिम विचार है। देखो, इस पानदान में पान का बीड़ा रखा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को इसे अपने हाथों खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा जब इस घर से हरदौल की लाश निकलेगी।

रानी ने घृणा की दृष्टि से पान के बीड़े को देखा और वह उलटे पैर लौट आयी।

रानी सोचने लगी—क्या हरदौल के प्राण लूँ? निर्दोष सच्चरित्र वीर हरदौल की जान से अपने सतीत्व की परीक्षा दूँ? उस हरदौल के खून से अपना हाथ काला करूँ जो मुझे बहन समझता है! यह पाप किसके सिर पड़ेगा? क्या एक निर्दोष का खून रंग न लायेगा? आह! अभागी कुलीना! तुझे आज अपने सतीत्व की परीक्षा देने की आवश्यकता पड़ी है, और वह ऐसी कठिन? नहीं यह पाप मुझसे न होगा। यदि राजा मुझे कुलटा समझते हैं, तो समझें, उन्हें मुझपर सन्देह है, तो हो। मुझसे यह पाप न होगा। राजा को ऐसा सन्देह क्यों हुआ? क्या केवल थालों के बदल जाने से? नहीं, अवश्य कोई और बात है। आज हरदौल उन्हें जंगल में मिल गया था। राजा ने उसकी कमर

में तलवार देखी होगी। क्या आश्चर्य है, हरदौल से कोई अपमान भी हो गया हो। मेरा अपराध क्या है? मुझ पर इतना बड़ा दोष क्यों लगाया जाता है? केवल थालों के बदल जाने से? हे ईश्वर! मैं किससे अपना दुःख कहूँ? तू ही मेरा साक्षी है। जो चाहे सो हो; पर मुझसे यह पाप न होगा।

रानी ने फिर सोचा—राजा, क्या तुम्हारा हृदय ऐसा ओछा और नीच है? तुम मुझसे हरदौल की जान लेने को कहते हो? यदि तुमसे उसका अधिकार और मान नहीं देखा जाता तो क्यों साफ साफ ऐसा नहीं कहते? क्यों मरदों की लड़ाई नहीं लड़ते? क्यों स्वयं अपने हाथ से उसका सिर नहीं काटते और मुझसे वह काम करने को कहते हो? तुम ख़ूब जानते हो, मैं नहीं कर सकती। यदि मुझसे तुम्हारा जी उकता गया है, यदि मैं तुम्हारी जान की जंजाल हो गयी हूँ, तो मुझे काशी या मथुरा भेज दो। मैं वेखटके चली जाऊँगी; पर ईश्वर के लिए मेरे सिर इतना बड़ा कलङ्क न लगने दो। पर मैं जीवित ही क्यों रहूँ? मेरे लिए अब जीवन में कोई सुख नहीं है। अब मेरा मरना ही अच्छा है। मैं स्वयं प्राण दे दूँगी, पर यह महापाप मुझसे न होगा। विचारों ने फिर पलटा खाया। तुमको पाप करना ही होगा। इससे बड़ा पाप शायद आज तक संसार में न हुआ हो; पर यह पाप तुमको करना होगा। तुम्हारे पतिव्रत पर सन्देह किया जा रहा है और तुम्हे इस सन्देह को मिटाना होगा। यदि तुम्हारी जान जोखिम में होती, तो कुछ हर्ज न था, अपनी जान देकर हरदौल को बचा लेती; पर इस समय तुम्हारे पतिव्रत पर आँच आ रही है। इसलिए तुम्हें यह पाप करना ही होगा, और पाप करने के बाद हँसना और प्रसन्न रहना होगा। यदि तुम्हारा चित्त तनिक भी विचलित हुआ, यदि तुम्हारा मुख ही ज़रा भी मद्धिम हुआ, तो इतना बड़ा पाप करने पर भी तुम सन्देह मिटाने में सफल न होगी। तुम्हारे जी पर चाहे जो बीते, पर तुम्हें यह पाप करना ही पड़ेगा। परन्तु कैसे होगा? क्या मैं हरदौल का सिर उतारूँगी? यह सोचकर रानी के शरीर में कँपकँपी आ गयी। नहीं, मेरा हाथ-पैर कभी नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल, मैं तुम्हें खिला सकती। मैं जानती हूँ, तुम मेरे लिए आनन्द से विष का बीड़ा खा लोगे। हाँ जानती हूँ, तुम 'नहीं' न करोगे; पर मुझसे यह महापाप नहीं हो सकता। एक बार नहीं, हज़ार बार नहीं हो सकता।

(४)

हरदौल को इन बातों की कुछ भी खबर न थी। आधी रात को एक दासी रोती हुई उसके पास गयी और उसने सब समाचार अक्षर-अक्षर कह सुनाया। वह दासी पानदान लेकर रानी के पीछे-पीछे राजमहल से दरवाजे पर गयी थी और सब बातें सुनकर आयी थी। हरदौल राजा का ढंग देखकर पहले ही ताड़ गया था कि राजा के मन में कोई न-कोई काँटा अवश्य खटक रहा है। दासी की बातों ने उसके सन्देह को और भी पक्का कर दिया। उसने दासी से कड़ी मनाही कर दी कि सावधान! किसी दूसरे के कानों में इन बातों की भनक न पड़े और वह स्वयं मरने को तैयार हो गया।

हरदौल बुन्देलों की वीरता का सूरज था। उसकी भौंहों के तनिक इशारे से तीन लाख बुन्देले मरने और मारने के लिए इकट्ठे हो सकते थे। ओरछा उस पर न्योछावर था। यदि जुझारसिंह खुले मैदान उसका सामना करते तो अवश्य मुँह की खाते, क्योंकि हरदौल भी बुन्देला था और बुन्देले अपने शत्रु के साथ किसी प्रकार की मुँहदेखी नहीं करते, मरना-मारना उसके जीवन का एक अच्छा दिलबहलाव है। उन्हें सदा इसकी लालसा रही है कि कोई हमें चुनौती दे, कोई हमें छेड़े। उन्हें सदा खून की प्यास रहती है और वह प्यास कभी नहीं बुझती। परन्तु उस समय एक स्त्री को उसके खून का जरूरत थी और उसका साहस उसके कानों में कहता था कि एक निर्दोष और सती अबला के लिए अपने शरीर का खून देने में मुँह न मोड़ो। यदि भैया को यह सन्देह होता कि मैं उनके ख़ून का प्यासा हूँ और उन्हें मारकर राज पर अधिकार करना चाहता हूँ, तो कुछ हर्ज न था। राज्य के लिए क़त्ल और ख़ून, दगा और फ़रेब सब उचित समझा गया है, परन्तु उनके इस सन्देह का निपटारा मेरे मरने के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता। इस समय मेरा धर्म है कि अपना प्राण देकर उनके इस सन्देह को दूर कर दूँ। उनके मन में यह दुखानेवाला सन्देह उत्पन्न करके भी यदि मैं जीता ही रहूँ और अपने मन की पवित्रता जनाऊँ, तो मेरी ढिठाई है। नहीं, इस भले काम में अधिक आगा-पीछा करना अच्छा नहीं। मैं खुशी से विष का बीड़ा खाऊँगा। इससे बढ़कर शूर वीर की मृत्यु और क्या हो सकती है!

क्रोध में आकर मारू के भय बढ़ानेवाले शब्द सुनकर रणक्षेत्र में अपनी जान को तुच्छ समझना इतना कठिन नहीं है। आज सच्चा वीर हरदौल अपने हृदय के बड़प्पन पर अपनी सारी वीरता और साहस न्योछावर करने को उद्यत है।

दूसरे दिन हरदौल ने ख़ूब तड़के स्नान किया। बदन पर अस्त्र-शस्त्र सजा मुसकुराता हुआ राजा के पास गया। राजा भी सोकर तुरन्त ही उठे थे, उनकी अलसायी हुई आँखें हरदौल की मूर्ति की ओर लगी हुई थीं। सामने संगमरमर की चौकी पर विष मिला पान सोने की तश्तरी में रखा हुआ था। राजा कभी पान की ओर ताकते और कभी मूर्ति की ओर। शायद उनके विचार ने इस विष की गाँठ और उस मूर्ति में एक सम्बन्ध पैदा कर दिया था। उस समय जो हरदौल एकाएक घर में पहुँचे तो राजा चौंक पड़े। उन्होंने सँभलकर पूछा, "इस समय कहाँ चले ?"

हरदौल का मुखड़ा प्रफुल्लित था। वह हँसकर बोला—"कल आप यहाँ पधारे हैं, इसी ख़ुशी में मैं आज शिकार खेलने जाता हूँ। आपको ईश्वर ने अजित बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"

यह कहकर हरदौल ने चौकी पर से पान-दान उठा लिया और उसे राजा के सामने रखकर बीड़ा लेने के लिए हाथ बढ़ाया। हरदौल का खिला हुआ मुखड़ा देखकर राजा की ईर्ष्या की आग और भी भड़क उठी।—दुष्ट, मेरे घाव पर नमक छिड़कने आया है ! मेरे मान और विश्वास को मिट्टी में मिलाने पर भी तेरा जी न भरा ! मुझसे विजय का बीड़ा माँगता है ! हाँ, यह विजय का बीड़ा है ; पर तेरी विजय का नहीं, मेरी विजय का।

इतना मन में कहकर जुझारसिंह ने बीड़े को हाथ में उठाया। वे एक क्षण तक कुछ सोचते रहे, फिर मुस्कराकर हरदौल को बीड़ा दे दिया। हरदौल ने सिर झुकाकर बीड़ा लिया, उसे माथे पर चढ़ाया, एक बार बड़ी ही करुणा के साथ चारों ओर देखा और फिर बीड़े को मुँह में रख लिया। एक सच्चे राजपूत ने अपना पुरुषत्व दिखा दिया। विष हलाहल था, कण्ठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गयी और आँखें बुझ गयीं। उसने एक ठण्डी साँस ली, दोनों हाथ जोड़कर जुझारसिंह को प्रणाम किया और ज़मीन

पर बैठ गया। उसके ललाट पर पसीने की ठण्डी-ठण्डी बूँदें दिखायी दे रही थीं और साँस तेजी से चलने लगी थी, पर चेहरे पर प्रसन्नता और सन्तोष की झलक दिखायी देती थी।

जुझारसिंह अपनी जगह से जरा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्ष्या से भरी हुई मुस्कराहट छाई हुई थी, पर आँसू भर आये थे। उजेले और अँधेरे का मिलाप हो गया था।

त्यागी का प्रेम

लाला गोपीनाथ को युवावस्था में ही दर्शन से प्रेम हो गया था। अभी वह इण्टरमीडियट क्लास में थे कि मिल और बर्कले के वैज्ञानिक विचार उनके कंठस्थ हो गये थे। उन्हें किसी प्रकार के विनोद-प्रमोद से रुचि न थी। यहाँ तक कि कालेज के क्रिकेट मैचों में भी उनको उत्साह न होता था। हास-परिहास से कोसों भागते और उनसे प्रेम की चर्चा करना तो मानों बच्चे को जूजू से डराना था। प्रातःकाल घर से निकल जाते और शहर से बाहर किसी सघन वृक्ष की छाँह में बैठकर दर्शन का अध्ययन करने में निरत हो जाते। काव्य, अलंकार, उपन्यास सभी को त्याज्य समझते थे। शायद ही अपने जीवन में उन्होंने कोई किस्से-कहानी की किताब पढ़ी हो। इसे केवल समय का दुरुपयोग ही नहीं, वरन् मन और बुद्धि-विकास के लिए घातक ख़याल करते थे। इसके साथ ही वह उत्साहहीन न थे। सेवा समितियों में बड़े उत्साह से भाग लेते। स्वदेशवासियों की सेवा के किसी अवसर को हाथ से न जाने देते। बहुधा मुहल्ले के छोटे-छोटे दूकानदारों की दूकान पर जा बैठते और उनके घाटे-टाटे, मंदे-तेजे की रामकहानी सुनते।

शनैः शनैः कालेज से उन्हें घृणा हो गयी। उन्हें अब अगर किसी विषय से प्रेम था, तो वह दर्शन था। कालेज की बहुविषयक शिक्षा उनके दर्शनानुराग में बाधक होती। अतएव उन्होंने कालेज छोड़ दिया और एकाग्रचित्त होकर विज्ञानोपार्जन करने लगे। किन्तु दर्शनानुराग के साथ ही साथ उनका देशानुराग भी बढ़ता गया और कालेज छोड़ने के थोड़े ही दिनों पश्चात् वह अनिवार्यतः जातिसेवकों के दल में सम्मिलित हो गये। दर्शन में भ्रम था, अविश्वास था, अंधकार था, जातिसेवा में सम्मान था, यश था और दीनों की सदिच्छाएँ थीं। उनका वह सदनुराग जो बरसों से वैज्ञानिक वादों के नीचे दबा हुआ था, वायु के प्रचंड वेग के साथ निकल पड़ा। नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में कूद पड़े। देखा तो मैदान ख़ाली था। जिधर आँख उठाते, सन्नाटा दिखायी देता।

जातिसेवा बड़े अंशों तक केवल चन्दे माँगना है। इसके लिए धनिकों की दर्बारदारी या दूसरे शब्दों में खुशामद भी करनी पड़ती थी, दर्शन के उस गौरवयुक्त अध्ययन और इस दानलोलुपता में कितना अंतर था! कहाँ मिल और कैंट, स्पेन्सर और किड के साथ एकान्त में बैठे हुए जीव और प्रकृति के गहन-गूढ़ विषय पर वार्तालाप, और कहाँ इन अभिमानी, असभ्य, मूर्ख व्यापारियों के सामने सिर झुकाना। वह अन्तःकरण में उनसे घृणा करते थे। वह धनी थे और केवल धन कमाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विशेष गुण न था। उनमें अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने कपट व्यापार से धनोपार्जन किया था। पर गोपीनाथ के लिए वह सभी पूज्य थे, क्योंकि उन्हीं की कृपादृष्टि पर उनकी राष्ट्रसेवा अवलम्बित थी।

इस प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। गोपीनाथ नगर के मान्य पुरुषों में गिने जाने लगे। वह दीनजनों के आधार और दुखियारों के मददगार थे। अब वह बहुत कुछ निर्भीक हो गये थे और कभी कभी रईसों को भी कुमार्ग पर चलते देखकर फटकार दिया करते थे। उनकी तीव्र आलोचना भी अब चन्दे जमा करने में उनकी सहायक हो जाती थी।

अभी तक उनका विवाह न हुआ था। वह पहले ही से ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर चुके थे। विवाह करने से इन्कार किया। मगर जब पिता और अन्य बन्धुजनों ने बहुत आग्रह किया, और उन्होंने स्वयं कई विज्ञान ग्रंथों में देखा कि इन्द्रिय-दमन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, तो असमंजस में पड़े। कई हफ्ते सोचते हो गये और वह मन में कोई बात पक्की न कर सके। स्वार्थ और परमार्थ में संग्राम हो रहा था। विवाह का अर्थ था अपनी उदारता की हत्या करना, अपने विस्तृत हृदय को संकुचित करना, न कि राष्ट्र के लिए जीना। वह अब इतने ऊँचे आदर्श का त्याग करना निन्द्य और उपहासजनक समझते थे। इसके अतिरिक्त अब वह अनेक कारणों से अपने को पारिवारिक जीवन के अयोग्य पाते थे। जीविका के लिए जिस उद्योगशीलता, जिस अनवरत परिश्रम और जिस मनोवृत्ति की आवश्यकता है, वह उनमें न रही थी। जातिसेवा में भी उद्योगशीलता और अध्यवसाय की कम जरूरत न थी, लेकिन उसमें आत्मगौरव का हनन न होता था। परोपकार के लिए भिक्षा माँगना दान है,

अपने लिए पान का एक बीड़ा भी भिद्दा है। स्वभाव में एक प्रकार की स्वच्छन्दता आ गयी थी। इन त्रुटियों पर परदा डालने के लिये जातिसेवा का बहाना बहुत अच्छा था!

एक दिन वह सैर करने जा रहे थे कि रास्ते में अध्यापक अमरनाथ से मुलाकात हो गई। यह महाशय अब म्युनिसिपलबोर्ड के मंत्री हो गए थे और आज-कल इस दुविधा में पड़े हुये थे कि शहर में मादक वस्तुओं के बेचने का ठीका लूँ या न लूँ। लाभ बहुत था, पर बदनामी भी कम न थी। अभी तक कुछ निश्चय न कर चुके थे। इन्हें देखकर बोले—कहिए लालाजी, मिजाज अच्छा है न! आपके विवाह के विषय में क्या हुआ?

गोपीनाथ ने दृढ़ता से कहा—मेरा इरादा विवाह करने का नहीं है।

अमरनाथ—ऐसी भूल न करना। तुम अभी नवयुवक हो, तुम्हें संसार का कुछ अनुभव नहीं है। मैंने ऐसी कितनी मिसालें देखी हैं, जहां अविवाहित रहने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। विवाह मनुष्य को सुमार्ग पर रखने का सबसे उत्तम साधन है, जिसे अब तक मनुष्य ने आविष्कृत किया है। उस व्रत से क्या फायदा जिसका परिणाम छिछोरापन हो।

गोपीनाथ ने प्रत्युत्तर दिया—'आपने मादक वस्तुओं के ठीके के विषय में क्या निश्चय किया?'

अमर—अभी तो कुछ नहीं। जी हिचकता है। कुछ-न-कुछ बदनामी तो होगी ही।

गोपी—एक अध्यापक के लिये मैं इस पेशे को अपमान समझता हूँ।

अमर—कोई पेशा ख़राब नहीं है, अगर ईमानदारी से किया जाय।

गोपी—यहाँ मेरा आप से मतभेद है। कितने ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें एक सुशिक्षित व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मादक वस्तुओं का ठीका उनमें एक है।

गोपीनाथ ने आकर अपने पिता से कहा—मैं कदापि विवाह न करूँगा। आप लोग मुझे विवश न करें, वरना पछताइयेगा।

अमरनाथ ने उसी दिन ठीके के लिये प्रार्थनापत्र भेज दिया और वह स्वीकृत भी हो गया।

(३)

दो साल हो गये हैं। लाला गोपीनाथ ने एक कन्या-पाठशाला खोली है और उसके प्रबन्धक हैं। शिक्षा की विभिन्न पद्धतियों का उन्होंने खूब अध्ययन किया है और इस पाठशाला में वह उनका व्यवहार कर रहे हैं। शहर में यह पाठशाला बहुत ही सर्वप्रिय है। इसने बहुत अंशों में उस उदासीनता का परिशोध कर दिया है, जो माता-पिता को पुत्रियों की शिक्षा की ओर होती है। शहर के गण्य-मान्य पुरुष अपनी लड़कियों को सहर्ष पढ़ने भेजते हैं। वहाँ शिक्षाशैली कुछ ऐसी मनोरंजक है कि बालिकाएँ एक बार जाकर मानों मंत्रमुग्ध हो जाती हैं। फिर उन्हें घर पर चैन नहीं मिलता। ऐसी व्यवस्था की गयी है कि तीन चार वर्षों में ही कन्याओं को गृहस्थी के मुख्य कामों से परिचय हो जाय। सबसे बडी बात यह है कि यहाँ धर्मशिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध किया गया है। अबकी साल से प्रबन्धक महोदय ने अँगरेजी की कक्षायें भी खोल दी हैं। एक सुशिक्षित गुजराती महिला को बम्बई से बुलाकर पाठशाला उनके हाथ में दे दी है। इन महिला का नाम है आनन्दी बाई। विधवा हैं। हिन्दी भाषा से भली-भाँति परिचित नहीं हैं, किन्तु गुजराती में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं। कई कन्या पाठशालाओं में काम कर चुकी हैं। शिक्षा सम्बन्धी विषयों में अच्छी गति है। उनके आने से मदरसे में और भी रौनक आ गयी है। कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने जो अपनी बालिकाओं को मसूरी और नैनीताल भेजना चाहते थे, अब उन्हें यहीं भरती करा दिया है। आनन्दी रईसों के घरों में जाती है और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करती है। उनके वस्त्रा-भूषणों से सुरुचि का बोध होता है। हैं भी उच्चकुल की, इसलिये शहर में उनका बड़ा सम्मान होता है। लड़कियाँ उन पर जान देती हैं, उन्हें माँ कहकर पुकारती हैं। गोपीनाथ पाठशाला की उन्नति देख-देखकर फूले नहीं समाते। जिससे मिलते हैं, आनन्दी बाई का ही गुणगान करते हैं। बाहर से कोई सुविख्यात पुरुष आता है, तो उससे पाठशाला का निरीक्षण अवश्य कराते हैं। आनन्दी की प्रशंसा से उन्हें वही आनन्द प्राप्त होता है, जो स्वयं अपनी प्रशंसा से होता। बाईजी को भी दर्शन से प्रेम है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें गोपीनाथ पर असीम श्रद्धा है। वह हृदय से उनका सम्मान करती हैं। उनके त्याग और

निष्काम जातिभक्ति ने उन्हें वशीभूत कर लिया है। वह मुँह पर तो उनकी बड़ाई नहीं करतीं; पर रईसों के घरों में बड़े प्रेम से उनका यशोगान करती हैं। ऐसे सच्चे सेवक आजकल कहाँ ! लोग कीर्ति पर जान देते हैं। जो थोड़ी-बहुत सेवा करते हैं, दिखावे के लिए। सच्ची लगन किसी में नहीं। मैं लालाजी को पुरुष नहीं, देवता समझती हूँ। कितना सरल, संतोषमय जीवन है। न कोई व्यसन, न विलास। भोर से सायंकाल तक दौड़ते रहते हैं, न खाने का कोई समय, न सोने का समय। उस पर कोई ऐसा नहीं, जो उनके आराम का ध्यान रखे। बिचारे घर गये, जो कुछ किसी ने सामने रख दिया, चुपके से खा लिया, फिर छड़ी उठायी और किसी तरफ चल दिये। दूसरी औरत कदापि अपनी पत्नी की भाँति सेवा-सत्कार नहीं कर सकती।

दशहरे के दिन थे। कन्या-पाठशाला में उत्सव मनाने की तैयारियाँ हो रही थीं। एक नाटक खेलने का निश्चय किया गया था। भवन ख़ूब सजाया गया था। शहर के रईसों को निमन्त्रण दिये गये थे। यह कहना कठिन है कि किसका उत्साह बढ़ा हुआ था, बाईजी का या लाला गोपीनाथ का। गोपीनाथ सामग्रियाँ एकत्र कर रहे थे, उन्हें अच्छे ढंग से सजाने का भार आनन्दी ने लिया था। नाटक भी इन्हीं ने रचा था। नित्य प्रति उसका अभ्यास कराती थीं और स्वयं एक पार्ट ले रखा था।

विजयादशमी आ गयी। दोपहर तक गोपीनाथ फ़र्श और कुर्सियों का इन्तज़ाम करते रहे। जब एक बज गया और अब भी वह वहाँ से न टले तो आनन्दी ने कहा—लालाजी, आपको भोजन करने को देर हो रही है। अब सब काम हो गया है। जो कुछ बच रहा है, मुझपर छोड़ दीजिए।

गोपीनाथ ने कहा—खा लूँगा। मैं ठीक समय पर भोजन करने का पाबन्द नहीं हूँ। फिर घर तक कौन जाय। घंटों लग जायेंगे। भोजन के उपरान्त आराम करने को जी चाहेगा। शाम हो जायगी।

आनन्दी—भोजन तो मेरे यहाँ तैयार है, ब्राह्मणी ने बनाया है। चलकर खा लीजिए और यहीं जरा देर आराम भी कर लीजिए।

गोपीनाथ—यहाँ क्या खा लूँ ! एक वक़्त न खाऊँगा, तो ऐसी कौन सी हानि हो जायगी ?

प्राच्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों का एक ही मत था—यह मायावी, आत्मिक उन्नति की बाधक, परमार्थ की विरोधिनी, वृत्तियों को कुमार्ग की ओर ले जानेवाली, हृदय को संकीर्ण बनानेवाली होती है। इन्हीं कारणों से उन्होंने इस मायावी जाति से अलग रहना ही श्रेयस्कर समझा था, किन्तु अब अनुभव बतला रहा था कि स्त्रियाँ सन्मार्ग की ओर भी ले जा सकती हैं, उनमें सद्‌गुण भी हो सकते हैं। वह कर्त्तव्य और सेवा के भावों को जाग्रत भी कर सकती हैं। तब उनके मन में प्रश्न उठता कि यदि आनन्दी से मेरा विवाह होता तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। उसके साथ तो मेरा जीवन बड़े आनन्द से कट जाता। एक दिन वह आनन्दी के यहाँ गये तो सिर में दर्द हो रहा था। कुछ लिखने की इच्छा न हुई। आनन्दी को इसका कारण मालूम हुआ तो उसने उनके सिर में धीरे धीरे तेल मलना शुरू किया। गोपीनाथ को उस समय अलौकिक सुख मिल रहा था। मन में प्रेम की तरंगें उठ रहीं थी—नेत्र, मुख, वाणी—सभी प्रेम में पगे जाते थे। उसी दिन से उन्होंने आनन्दी के यहाँ आना छोड़ दिया। एक सप्ताह बीत गया और न आये। आनन्दी ने लिखा—आपसे पाठशाला सम्बन्धी कई विषयों में राय लेनी है। अवश्य आइए। तब भी न गये। उसने फिर लिखा—मालूम होता है आप मुझसे नाराज हैं। मैंने जान बूझकर तो कोई ऐसा काम नहीं किया, लेकिन यदि वास्तव में आप नाराज हैं तो मैं यहाँ रहना उचित नहीं समझती। अगर आप अब भी न आयेंगे तो मैं द्वितीय अध्यापिका को चार्ज देकर चली जाऊँगी। गोपीनाथ पर इस धमकी का भी कुछ असर न हुआ। अब भी न गये। अन्त में दो महीने तक खिंचे रहने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि आनन्दी बीमार है और दो दिन से पाठशाला नहीं आ सकी। तब वह किसी तर्क या युक्ति से अपने को न रोक सके। पाठशाला में आये और कुछ झिझकते, कुछ सकुचाते, आनन्दी के कमरे में क़दम रखा। देखा तो चुप-चाप पड़ी हुई थी। मुख पीला था, शरीर घुल गया था। उसने उनकी ओर दयाप्रार्थी नेत्रो देखा। उठना चाहा पर अशक्ति ने उठने न दिया। गोपीनाथ ने आर्द्र कंठ से कहा—'लेटी रहो, लेटी रहो, उठने की ज़रूरत नहीं, मैं बैठ जाता हूँ। डाक्टर साहब आये थे?'

मिश्राइन ने कहा—जी हाँ, दो बार आये थे। दवा दे गये हैं।

गोपीनाथ ने नुसखा देखा। डाक्टरी का साधारण ज्ञान था। नुसख़े से ज्ञात हुआ—हृदयरोग है। औषधियाँ सभी पुष्टिकर और बलवर्द्धक थीं। आनन्दी की ओर फिर देखा। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। उनका गला भी भर आया। हृदय मसोसने लगा। गद्‌गद होकर बोले—आनन्दी, तुमने मुझे पहले इसकी सूचना न दी, नहीं तो रोग इतना न बढ़ने पाता।

आनन्दी—कोई बात नहीं है, अच्छी हो जाऊँगी, जल्दी ही अच्छी हो जाऊँगी। मर भी जाऊँगी तो कौन रोनेवाला बैठा हुआ है? यह कहते-कहते वह फूट-फूट रोने लगी।

गोपीनाथ दार्शनिक थे; पर अभी तक उनके मन के कोमल भाव शिथिल न हुए थे। कम्पित स्वर से बोले—आनन्दी, संसार में कम-से-कम एक ऐसा आदमी है जो तुम्हारे लिए अपने प्राण तक दे देगा। यह कहते-कहते वह रुक गये। उन्हें अपने शब्द और भाव कुछ भद्दे और उच्छृङ्खल-से जान पड़े। अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए वह इन सारहीन शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यमय, रसपूर्ण, अनुरक्त शब्दों का व्यवहार करना चाहते थे; पर वह इस वक्त याद न पड़े।

आनन्दी ने पुलकित होकर कहा—दो महीने तक किस पर छोड़ दिया था?

गोपीनाथ—इन दो महीने में मेरी जो दशा थी, वह मैं ही जानता हूँ। यही समझ लो कि मैंने आत्महत्या नहीं की, यही बड़ा आश्चर्य है। मैंने न समझा था कि अपने व्रत पर स्थिर रहना मेरे लिए इतना कठिन हो जायगा।

आनन्दी ने गोपीनाथ का हाथ धीरे से अपने हाथ में लाकर कहा—अब तो कभी इतनी कठोरता न कीजिएगा?

गोपीनाथ—(सचिन्त होकर) अन्त क्या है?

आनन्दी—कुछ भी हो!

गोपी—कुछ भी हो?

आनन्दी—हाँ, कुछ भी हो!

गोपी—अपमान, निन्दा, उपहास, आत्मवेदना।

आनन्दी—कुछ भी हो, मैं सब कुछ सह सकती हूँ, और आपको भी मेरे हेतु सहना पड़ेगा।

गोपी—आनन्दी, मैं अपने को प्रेम पर बलिदान कर सकता हूँ, लेकिन अपने नाम को नहीं। इस नाम को अकलंकित रखकर मैं समाज की बहुत कुछ सेवा कर सकता हूँ।

आनन्दी—न कीजिए। आपने सब कुछ त्यागकर यह कीर्ति लाभ की है, मैं आपके यश को नहीं मिटाना चाहती (गोपीनाथ का हाथ हृदयस्थल पर रखकर) इसको चाहती हूँ। इससे अधिक त्याग की आकांक्षा नहीं रखती।

गोपी—दोनों बातें एक साथ संभव हैं?

आनन्दी—संभव हैं। मेरे लिए संभव हैं। मैं प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।

(५)

इसके पश्चात् लाला गोपीनाथ ने आनन्दी की बुराई करनी शुरू की। मित्रों से कहते, उनका जी अब काम में नहीं लगता। पहले की-सी तनदेही नहीं है। किसी से कहते, उनका जी अब यहाँ से उचाट हो गया है, अपने घर जाना चाहती हैं, उनकी इच्छा है कि मुझे प्रति वर्ष तरक्की मिला करे और उसकी यहाँ गुंजाइश नहीं। पाठशाला को कई बार देखा और अपनी आलोचना में काम को असन्तोषजनक लिखा। शिक्षा, संगठन, उत्साह, सुप्रबन्ध सभी बातों में निराशाजनक क्षति पायी। वार्षिक अधिवेशन में जब कई सदस्यों ने आनन्दी की वेतन-वृद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया तो लाला गोपीनाथ ने उसका विरोध किया। उधर आनन्दी बाई भी गोपीनाथ के दुखड़े रोने लगीं। वह मनुष्य नहीं है, पत्थर के देवता हैं। इन्हें प्रसन्न करना दुस्तर है, अच्छा ही हुआ कि उन्होंने विवाह नहीं किया, नहीं तो दुखिया इनके नखरे उठाते-उठाते सिधार जाती। कहाँ तक कोई सफाई और सुप्रबन्ध पर ध्यान दे! दीवार पर एक धब्बा भी पड़ गया, किसी कोने-खुतरे में एक जाला भी लग गया, बरामदों में कागज़ का एक टुकड़ा भी पड़ा मिल गया तो आपके तीवर बदल जाते हैं। दो साल मैंने ज्यों त्यों करके निबाहा, लेकिन देखती हूँ कि लाला साहब की निगाह दिनों-दिन कड़ी होती जाती है। ऐसी दशा में मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकती। मेरे लिए नौकरी का कल्याण नहीं है, जब जी चाहेगा, उठ खड़ी हूँगी। यहाँ आप लोगों से मेल-मुहब्बत हो गयी है, कन्याओं से ऐसा प्यार हो गया है कि

छोड़कर जाने का जी नहीं चाहता। आश्चर्य था कि और किसी को पाठशाला की दशा में अवनति न दीखती थी, वरन हालत पहले से अच्छी थी।

एक दिन पण्डित अमरनाथ की लालाजी से भेंट हो गयी। उन्होंने पूछा—कहिए, पाठशाला ख़ूब चल रही है न?

गोपी—कुछ न पूछिए। दिनों-दिन दशा गिरती जाती है।

अमर—आनन्दी बाई की ओर से ढील है क्या?

गोपी—जी हाँ, सरासर। अब काम करने में उनका जी ही नहीं लगता। बैठी हुई योग और ज्ञान के ग्रथ पढ़ा करती हैं।। कुछ कहता हूँ तो कहती हैं, मै अब इससे और अधिक कुछ नहीं कर सकती। कुछ परलोक की भी चिन्ता करूँ कि चौबीसों घटे पेट के धंधों ही में लगी रहूँ? पेट के लिए पाँच घण्टे बहुत हैं। पहले कुछ दिनों तक बारह घण्टे करती थी; पर वह दशा स्थायी नहीं रह सकती थी। यहाँ आकर मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया। एक बार कठिन रोग में ग्रस्त हो गयी। क्या कमेटी ने मेरा दवा-दर्पन का खर्च दे दिया? कोई बात पूछने भी आया? फिर अपनी जान क्यों दूँ? सुना है, घरों में मेरी बदगोई भी किया करती हैं। अमरनाथ मार्मिक भाव से बोले—यह बातें मुझे पहले ही मालूम थीं।

दो साल और गुज़र गये। रात का समय था। कन्या-पाठशाला के ऊपरवाले कमरे में लाला गोपीनाथ मेज़ के सामने कुरसी पर बैठे हुए थे। सामने आनन्दी कोच पर लेटी हुई थी। मुख बहुत म्लान हो रहा था। कई मिनट तक दोनों विचार में मग्न थे। अन्त में गोपीनाथ बोले—मैंने पहले ही महीने में तुमसे कहा था कि मथुरा चली जाओ।

आनन्दी—वहाँ दस महीने क्योंकर रहती। मेरे पास इतने रुपये कहाँ थे और न तुम्हीं ने कोई प्रबन्ध करने का आश्वासन दिया। मैंने सोचा, तीन-चार महीने यहाँ और रहूँ। तब तक किफायत करके कुछ बचा लूँगी, तुम्हारी किताब से भी कुछ रुपये मिल जायँगे। तब मथुरा चली जाऊँगी; मगर यह क्या मालूम था कि बीमारी भी इसी अवसर की ताक में बैठी हुई है। मेरी दशा दो-चार दिन के लिए भी सँभली और मैं चली। इस दशा में तो मेरे लिए यात्रा करना असम्भव है।

गोपी—मुझे भय है कि कहीं बीमारी तूल न खींचे। संग्रहणी असाध्य रोग है। महीने-दो महीने यहाँ और रहने पड़ गये तो बात खुल जायगी।

आनन्दी—(चिढ़कर) खुल जायगी, खुल जाय। अब इसे कहाँ तक डरूँ ?

गोपी—मैं भी न डरता, अगर मेरे कारण नगर की कई संस्थाओं का जीवन संकट में न पड़ जाता। इसीलिए मैं बदनामी से डरता हूँ। समाज के यह बंधन निरे पाखंड हैं। मैं उन्हें सम्पूर्णतः अन्याय समझता हूँ। इस विषय में तुम मेरे विचारों को भली-भाँति जानती हो, पर करूँ क्या ? दुर्भाग्यवश मैंने जाति-सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया है और उसी का फल है कि आज मुझे अपने माने हुए सिद्धान्तों को तोड़ना पड़ रहा है और जो वस्तु मुझे प्राणों से भी प्रिय है, उसे यों निर्वासित करना पड़ रहा है।

किन्तु आनन्दी की दशा सँभलने की जगह दिनों-दिन गिरती ही गयी। कमजोरी से उठना-बैठना कठिन हो गया। किसी वैद्य या डाक्टर को उसकी अवस्था न दिखायी जाती थी। गोपीनाथ दवाएँ लाते थे, आनन्दी उनका सेवन करती थी और दिन-दिन निर्बल होती जाती थी। पाठशाला से उसने छुट्टी ले ली थी। किसी से मिलती जुलती भी न थी। बार-बार चेष्टा करती कि मथुरा चली जाऊँ, किन्तु एक अनजान नगर में अकेले कैसे रहूँगी, न कोई आगे न पीछे। कोई एक घूँट पानी देने वाला भी नहीं। यह सब सोचकर उसकी हिम्मत टूट जाती थी। इसी सोच-विचार और हैस-बैस में दो महीने और गुजर गये और अन्त में विवश होकर आनन्दी ने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ सिर पर बीते, यहाँ से चल ही दूँ। अगर सफ़र में मर भी जाऊँगी तो क्या चिन्ता है। उनकी बदनामी तो न होगी। उनके यश को कलंक तो न लगेगा। मेरे पीछे ताने तो न सुनने पड़ेंगे। सफ़र की तैयारियाँ करने लगी। रात को जाने का मुहूर्त था कि सहसा सध्याकाल ही से प्रसवपीड़ा होने लगी और ग्यारह बजते-बजते एक नन्हा-सा दुर्बल सतवाँसा बालक प्रसव हुआ। बच्चे के होने की आवाज सुनते ही लाला गोपीनाथ बेतहाशा ऊपर से उतरे और गिरते-पड़ते घर भागे। आनन्दी ने इस भेद को अन्त तक छिपाये रखा, अपनी दारुण प्रसवपीड़ा का हाल किसी से न कहा। दाई को भी सूचना न दी; मगर

जब बच्चे के रोने की ध्वनि मदरसे में गूँजी तो क्षणमात्र में दाई सामने आकर खड़ी हो गयी। नौकरानियों को पहले ही से शंकाएँ थीं। उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ। जब दाई ने आनन्दी को पुकारा तो वह सचेत हो गयी। देखा तो बालक रो रहा है।

(६)

दूसरे दिन दस बजते-बजते यह समाचार सारे शहर में फैल गयी। घर-घर चर्चा होने लगी। कोई आश्चर्य करता था, कोई घृणा करता, कोई हँसी उड़ाता था। लाला गोपीनाथ के छिद्रान्वेषियों की संख्या कम न थी। पण्डित अमरनाथ उनके मुखिया थे। उन लोगों ने लालाजी की निन्दा करनी शुरू की। जहाँ देखिए वहीं दो-चार सज्जन बैठे गोपनीय भाव से इसी घटना की आलोचना करते नजर आते थे। कोई कहता था, इस स्त्री के लक्षण पहले ही से विदित हो रहे थे। अधिकांश आदमियों की राय में गोपीनाथ ने यह बुरा किया। यदि ऐसा ही प्रेम ने जोर मारा था तो उन्हें निडर होकर विवाह कर लेना चाहिए था। यह काम गोपीनाथ का है, इसमें किसी को भ्रम न था। केवल कुशल-समाचार पूछने के बहाने से लोग उनके घर जाते और दो-चार अन्योक्तियाँ सुनाकर चले जाते थे। इसके विरुद्ध आनन्दी पर लोगों को दया आती थी। पर लालाजी के ऐसे भक्त भी थे, जो लालाजी के माथे यह कलंक मढ़ना पाप समझते थे। गोपीनाथ ने स्वयं मौन धारण कर लिया था। सबकी भली-बुरी बातें सुनते थे, पर मुँह न खोलते थे। इतना हिम्मत न थी कि सबसे मिलना छोड़ दें।

प्रश्न था, अब क्या हो? आनन्दी बाई के विषय में तो जनता ने फैसला कर दिया। बहस यह थी कि गोपीनाथ के साथ क्या व्यवहार किया जाय। कोई कहता था, उन्होंने जो कुकर्म किया है, उसका फल भोगें। आनन्दी बाई को नियमित रूप से घर में रखें। कोई कहता, हमें इससे क्या मतलब, आनन्दी जानें और वह जानें? दोनों जैसे-के तैसे हैं जैसे उदई वैसे भान, न उनके चोटी न उनके कान। लेकिन इन महाशय को पाठशाला के अन्दर अब कदम न रखने देना चाहिए। जनता के फैसले साक्षी नहीं खोजते। अनुमान ही उसके लिए सबसे बड़ी गवाही है।

लेकिन पंडित अमरनाथ और उनकी गोष्ठी के लोग गोपीनाथ को इतने सस्ते न छोड़ना चाहते थे। उन्हें गोपीनाथ से पुराना द्वेष था। यह कल का लौंडा, दर्शन की दो चार पुस्तकें उलट-पुलटकर, राजनीति में कुछ शुदबुद करके लीडर बना हुआ विचरे, सुनहरी ऐनक लगाये, रेशमी चादर गले में डाले, यों गर्व से ताके, मानों सत्य और प्रेम का पुतला है। ऐसे रँगे सियारों की जितनी कलई खोली जाय, उतना ही अच्छा। जाति को ऐसे दग़ाबाज, चरित्रहीन, दुर्बलात्मा सेवकों से सचेत कर देना चाहिए। पण्डित अमरनाथ पाठशाला की अध्यापिकाओं और नौकरों से तहक़ीक़ात करते थे। लालाजी कब आते थे, कब जाते थे, कितनी देर रहते थे, यहाँ क्या किया करते थे, तुम लोग उनकी उपस्थिति में वहाँ जाने पाते थे या रोक थी! लेकिन यह छोटे छोटे आदमी जिन्हें गोपीनाथ से सन्तुष्ट रहने का कोई कारण न था (उनकी सख़्ती की नौकर लोग बहुत शिकायत किया करते थे) इस दुरवस्था में उनके ऐबों पर परदा डालने लगे। अमरनाथ ने बहुत प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया पर किसी ने गोपीनाथ के विरुद्ध साक्षी न दी।

उधर लाला गोपीनाथ ने उसी दिन से आनन्दी के घर आना-जाना छोड़ दिया। दो हफ़्ते तक तो वह अभागिनी किसी तरह कन्या पाठशाला मे रही। पन्द्रहवें दिन प्रबन्धक समिति ने उसे मकान खाली कर देने की नोटिस दे दिया। महीने-भर की मोहलत देना भी उचित न समझा। अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहती थी, कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमज़ोर, ख़ुद बीमार, कोई आगे, न पीछे, न कोई दुःख का संगी, न साथी। शिशु को गोद में लिए दिन के-दिन बेदाना-पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गयी थी, जो बर्तन धोकर चली जाती थी। कभी-कभी शिशु को छाती से लगाये रात की रात रह जाती, पर धन्य है उसके धैर्य और सन्तोष को! लाला गोपीनाथ से मुँह में शिकायत थी न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे पराङ्मुख ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उनके बदनाम होने से नगर की कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर सन्देह करते हैं, पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई प्रमाण दे सके!

यह सोचते हुए उसने स्वामी अभेदानन्द की एक पुस्तक उठायी और उसके एक अध्याय का अनुवाद करने लगी। अब उसकी जीविका का एक-मात्र यही आधार था। सहसा किसी ने धीरे से द्वार खटखटाया। वह चौंक पड़ी। लाला गोपीनाथ की आवाज़ मालूम हुई। उसने तुरन्त द्वार खोल दिया। गोपीनाथ आकर खड़े हो गये और सोते हुए बालक को प्यार से देखकर बोले—'आनन्दी, मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। मैं अपनी भीरुता और नैतिक दुर्बलता पर अत्यन्त लज्जित हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी बदनामी जो कुछ होनी थी, वह हो चुकी। मेरे नाम से चलनेवाली संस्थाओं को जो हानि पहुँचनी थी, पहुँच चुकी। अब असम्भव है कि मैं जनता को अपना मुँह फिर दिखाऊँ और न वह मुझपर विश्वास ही कर सकती है। इतना जानते हुए भी मुझमें इतना साहस नहीं है कि अपने कुकृत्य का भार सिर ले लूँ। मैं पहले सामाजिक शासन की रत्ती-भर परवाह न करता; पर अब पग-पग पर उसके भय से मेरे प्राण काँपने लगते हैं। धिक्कार है मुझ पर कि तुम्हारे ऊपर ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं, लोकनिन्दा, रोग, शोक, निर्धनता सभी का सामना करना पड़ा और मैं यों अलग अलग रहा मानों मुझसे कोई प्रयोजन नहीं है; पर मेरा हृदय ही जानता है कि उसकी कितनी पीड़ा होती थी। कितनी ही बार इधर आने का निश्चय किया और फिर हिम्मत हार गया। अब मुझे विदित हो गया कि मेरी सारी दार्शनिकता केवल हाथी का दाँत थी। मुझमें क्रिया-शक्ति नहीं है; लेकिन इसके साथ ही तुमसे अलग रहना मेरे लिये असह्य है। तुमसे दूर रहकर मैं जिन्दा नहीं रह सकता। प्यारे बच्चे को देखने के लिए मैं कितनी ही बार लालायित हो गया हूँ; पर यह आशा कैसे करूँ कि मेरी चरित्रहीनता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के बाद तुम्हें मुझसे घृणा न हो गयी होगी।

आनन्दी—स्वामी, आपके मन में ऐसी बातों का आना मुझ पर घोर अन्याय है। मैं ऐसी बुद्धि-हीन नहीं हूँ कि केवल अपने स्वार्थ के लिये आपको कलंकित करूँ। मैं आपको अपना इष्टदेव समझती हूँ और सदैव समझूँगी। मैं भी अब आपके वियोग-दुःख को नहीं सह सकती। कभी कभी आपके दर्शन पाती रहूँ, यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है।

इस घटना को पन्द्रह वर्ष बीत गये हैं। लाला गोपीनाथ नित्य बारह बजे

लेकिन पंडित अमरनाथ और उनकी गोष्ठी के लोग गोपीनाथ को इतने सस्ते न छोड़ना चाहते थे। उन्हें गोपीनाथ से पुराना द्वेष था। यह कल का लौंडा, दर्शन की दो चार पुस्तकें उलट-पुलटकर, राजनीति में कुछ शुदबुद करके लीडर बना हुआ विचरे, सुनहरी ऐनक लगाये, रेशमी चादर गले में डाले, यों गर्व से ताके, मानों सत्य और प्रेम का पुतला है। ऐसे रँगे सियारों की जितनी कलई खोली जाय, उतना ही अच्छा। जाति को ऐसे दग़ाबाज, चरित्रहीन, दुर्बलात्मा सेवकों से सचेत कर देना चाहिए। पण्डित अमरनाथ पाठशाला की अध्यापिकाओं और नौकरों से तहक़ीक़ात करते थे। लालाजी कब आते थे, कब जाते थे, कितनी देर रहते थे, यहाँ क्या किया करते थे, तुम लोग उनकी उपस्थिति में वहाँ जाने पाते थे या रोक थी ? लेकिन यह छोटे छोटे आदमी जिन्हें गोपीनाथ से सन्तुष्ट रहने का कोई कारण न था (उनकी सख्ती की नौकर लोग बहुत शिकायत किया करते थे) इस दुरवस्था में उनके ऐबों पर परदा डालने लगे। अमरनाथ ने बहुत प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया पर किसी ने गोपीनाथ के विरुद्ध साक्षी न दी।

उधर लाला गोपीनाथ ने उसी दिन से आनन्दी के घर आना-जाना छोड़ दिया। दो हफ्ते तक तो वह अभागिनी किसी तरह कन्या पाठशाला मे रही। पन्द्रहवें दिन प्रबन्धक समिति ने उसे मकान खाली कर देने की नोटिस दे दिया। महीने-भर की मोहलत देना भी उचित न समझा। अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहती थी, कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमजोर, ख़ुद बीमार, कोई आगे, न पीछे, न कोई दुःख का संगी, न साथी। शिशु को गोद में लिए दिन के-दिन बेदाना-पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गयी थी, जो बर्तन धोकर चली जाती थी। कभी-कभी शिशु को छाती से लगाये रात की रात रह जाती ; पर धन्य है उसके धैर्य और सन्तोष को ! लाला गोपीनाथ से मुँह में शिकायत थी न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे पराङ्मुख ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उनके बदनाम होने से नगर की कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर सन्देह करते हैं ; पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई प्रमाण दे सके !

यह सोचते हुए उसने स्वामी अभेदानन्द की एक पुस्तक उठायी और उसके एक अध्याय का अनुवाद करने लगी। अब उसकी जीविका का एक-मात्र यही आधार था। सहसा किसी ने धीरे से द्वार खटखटाया। वह चौंक पड़ी। लाला गोपीनाथ की आवाज़ मालूम हुई। उसने तुरन्त द्वार खोल दिया। गोपीनाथ आकर खड़े हो गये और सोते हुए बालक को प्यार से देखकर बोले—'आनन्दी, मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। मैं अपनी भीरुता और नैतिक दुर्बलता पर अत्यन्त लज्जित हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी बदनामी जो कुछ होनी थी, वह हो चुकी। मेरे नाम से चलनेवाली संस्थाओं को जो हानि पहुँचनी थी, पहुँच चुकी। अब असम्भव है कि मैं जनता को अपना मुँह फिर दिखाऊँ और न वह मुझपर विश्वास ही कर सकती है। इतना जानते हुए भी मुझमें इतना साहस नहीं है कि अपने कुकृत्य का भार सिर ले लूँ। मैं पहले सामाजिक शासन की रत्ती-भर परवाह न करता; पर अब पग-पग पर उसके भय से मेरे प्राण काँपने लगते हैं। धिक्कार है मुझ पर कि तुम्हारे ऊपर ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं, लोकनिन्दा, रोग, शोक, निर्धनता सभी का सामना करना पड़ा और मैं यों अलग अलग रहा मानों मुझसे कोई प्रयोजन नहीं है; पर मेरा हृदय ही जानता है कि उसकी कितनी पीड़ा होती थी। कितनी ही बार इधर आने का निश्चय किया और फिर हिम्मत हार गया। अब मुझे विदित हो गया कि मेरी सारी दार्शनिकता केवल हाथी का दाँत थी। मुझमें क्रिया-शक्ति नहीं है; लेकिन इसके साथ ही तुमसे अलग रहना मेरे लिये असह्य है। तुमसे दूर रहकर मैं ज़िन्दा नहीं रह सकता। प्यारे बच्चे को देखने के लिए मैं कितनी ही बार लालायित हो गया हूँ; पर यह आशा कैसे करूँ कि मेरी चरित्रहीनता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के बाद तुम्हें मुझसे घृणा न हो गयी होगी।

आनन्दी—स्वामी, आपके मन में ऐसी बातों का आना मुझ पर घोर अन्याय है। मैं ऐसी बुद्धि हीन नहीं हूँ कि केवल अपने स्वार्थ के लिये आपको कलंकित करूँ। मैं आपको अपना इष्टदेव समझती हूँ और सदैव समझूँगी। मैं भी अब आपके वियोग-दुःख को नहीं सह सकती। कभी कभी आपके दर्शन पाती रहूँ, यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है।

इस घटना को पन्द्रह वर्ष बीत गये हैं। लाला गोपीनाथ नित्य बारह बजे

शीतला देवी पलँग पर पड़ी करवटें बदल रही थीं और उसकी ननद सारन्धा फ़र्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी—

बिनु रघुबीर कटत नहिं रैन।

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गयी होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भींगे हुए थे, और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतर कर जमीन पर बैठ गयी।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भींगे क्यों हैं?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी?

अनिरुद्ध—सबने वीर-गति पायी।

शीतला ने दबी जबान से कहा, ईश्वर ने ही कुशल किया, मगर सारन्धा के तीवरों पर बल पड़ गये और मुख मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि, जिसे क्षण भर के लिए अनुराग ने दबा लिया था, फिर ज्वलन्त हो गयी। वह उलटे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि "सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।"

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध क़िले से बाहर निकला। पल-भर में नदी के उस पार जा पहुँचा और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे क़िले की दीवारों तक

आयी ; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहाँ आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है!

सारन्धा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेती।

सारन्धा—ना, छाती में छुरा चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—चोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौनी को जीत करके लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया; मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

(३)

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुँदेला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और वे अपने बाहु-बल से राज्य-विस्तार करने लगे। मुसलमानों की सेनाएँ बार बार उन पर हमले करती थीं, पर हारकर लौट जाती थीं।

यही समय था जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँह-माँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी, जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनायें हुईं कि चम्पतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वे अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर देहली चले गये। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहजादा

दाराशिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उनका बहुत आदर-सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उनको भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये-दिन के लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं, मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती—वह इन रहस्यों से दूर दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो? मैं तुम्हें कभी हंसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज हो?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी, आप क्यों ऐसा विचार करते हैं? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी ख़ुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जबसे यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र न सजाये। कहीं प्रेम लता मुरझाने तो नहीं लगी?

सारन्धा—प्राणनाथ, आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं, जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि ख़ुश रहूँ, मगर बोझ-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिए उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़कर बोले—मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन सा सुख था जो यहाँ नहीं है?

सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज तो न होंगे?

चम्पतराय—नहीं, शौक से कहो।

सारन्धा—ओरछे में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार

की चेरी हूँ। ओरछे मे मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थीं, यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामये आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आप के नाम मे काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे बस में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों पर से एक पर्दा सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे-माँ बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछे की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गयीं। उन्होंने आदरयुक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फिक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

(४)

माँ अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछे को भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखायी देने लगा!

यहाँ रहते-रहते महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहजादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-बिरंग के रूप भरकर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आये थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु वहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहजादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहरें मार रही थी, किसी योगी के त्याग के सदृश। विवश होकर चम्पतराय के पास सन्देश भेजा कि ख़ुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से वैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है, परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिए!

चम्पतराय—प्रिये, तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ, मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है। और अब हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा, परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्तिगान करती रहेगी। जब तक बुंदेलों का एक भी नामलेवा रहेगा, वे रक्त बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेंगे।

वायुमण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुंदेलो की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुंदेलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक एक अंग मुस्कुरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुंदेलों की यह सेना देखकर शाहजादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुंदेलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहजादों की फौज को सजाकर नदी के किनारे-किनारे पच्छिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुंदेले उसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरंत ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहजादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी। और वह बुंदेलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घण्टों का विलम्ब हुआ, परन्तु जाकर देखा तो सात सौ बुंदेलों की लाशें तड़प रही थीं।

राजा को देखते ही बुंदेलों की हिम्मत बँध गयी। शाहजादों की सेना ने

भी 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल पड़ गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गयीं, हाथोंहाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक की शाम हो गई। रणभूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुंदेलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके क़दम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कुतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आयी। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह फ़तह के फरिश्ते हैं, शाहज़ादों की मदद के लिए आये हैं ; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये तो सारन्धा ने घोड़े से उतरकर उनके पैरों पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बेजान लाशें तड़प रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए अनादि काल से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानिप्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली बहादुर खाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़े का शौक़ था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराक़ी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती ; चीते की सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामि-भक्ति देखकर लोगों को बड़ा कुतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—खबरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा, उसे धन से निहाल कर दूँगा।

योद्धागण चारों ओर से लपके, परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने के फ़िक्र में

था, पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का मेला सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गयी। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रखा और वह उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसकी अंचल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानो सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राजपरिवार के निमित्त स्वर्णजटित मृग साबित हुआ।

(५)

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति का विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर पर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी कभी ऐसे सिपाही भी जाते हैं, जो अवसर पर कदम बढ़ाना जानते हैं, लेकिन सकट में पीछे हटना नहीं जानते। ये रणवीर पुरुष विजय को नीति की भेंट कर देते हैं। वे अपनी सेना का नाम मिटा देंगे, किन्तु जहाँ एक बार पहुँच गये हैं, वहाँ से कदम पीछे न हटायेंगे। उनमें कोई विरला ही ससार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी अधिक गौरवात्मक होती है। अगर अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो आन पर जान देनेवाला, मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है, और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे इस कार्यक्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम जबान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा आन पर जान देने-वालों में थी।

शाहजादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया!

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष्य में बारह हज़ारी मन्सब प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से जमुना तक उसकी जागीर नियत की गयी। बुंदेला राजा फिर राज-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली बहादुर खाँ बड़ा वाक्य-चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँ साहब के महल की तरफ जा निकला। वली बहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरन्त अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता? पाँव-पाँव घर आया और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली, "मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया, शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा? क्या तेरे शरीर में बुंदेलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता, न सही; किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुंदेला बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।"

यह कहकर उसने अपने पचीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी। स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली बहादुर खाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँ साहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे, सारन्धा दरबार की तरफ चली, और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गयी। अधिकारी वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये।

एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। यह लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिए हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नजर आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुंदेला सिपाहियों ने भी तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी, किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया, किन्तु वह धनुष जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय जरा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गयी। उस पंखरहित पक्षी के सदृश, जो साँप को अपनी तरफ़ आते देख-कर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभलकर उठे और फिर गिर पड़े। सारन्धा ने उन्हें सँभालकर बैठाया, और रोकर बोलने की चेष्टा की, परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ! इसके आगे मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरनेवाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई, लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री-जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—"सारन, देखो, हमारा एक और वीर जमीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय में आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु, तू कब आयगी!" यह कहते कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया, मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिये, तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गयी। आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का सचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देखकर बोली—ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निभाऊँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण देने का संकेत कर रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार निकालकर अपने वक्षस्थल पर रख ली और कहा—यह आपकी आज्ञा नहीं है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं वेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना!

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो!

रानी के हृदय पर वज्राघात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ! इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी। आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं वेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

अनुभव और निरीक्षण का एक अमूल्य रत्न होगा। मैंने ऐसी ऐसी आश्चर्यजनक घटनाएँ आँखों से देखी हैं, जो अलिफलैला की कथाओं से कम मनोरंजक न होंगी। परन्तु वह घटना जो मैंने ज्ञानसरोवर के तट पर देखी, उसका उदाहरण मुश्किल से मिलेगा, मैं उसे कभी न भूलूँगा। यदि मेरे इस तमाम परिश्रम का उपहार यही एक रहस्य होता तो भी मैं उसे पर्याप्त समझता। मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं मिथ्यावादी नहीं। और न सिद्धियों तथा विभूतियों पर मेरा विश्वास है। मैं उस विद्वान् का भक्त हूँ जिसका आधार तर्क और न्याय पर है। यदि कोई दूसरा प्राणी यही घटना मुझसे बयान करता तो मुझे उस पर विश्वास करने में बहुत संकोच होता, किन्तु मैं जो कुछ बयान कर रहा हूँ, वह सत्य घटना है। यदि मेरे इस आश्वासन पर भी कोई उस पर अविश्वास करे, तो उसकी मानसिक दुर्बलता और विचारों की संकीर्णता है।

यात्रा का सातवाँ वर्ष था, ज्येष्ठ का महीना। मैं हिमालय के दामन में ज्ञानसरोवर के तट पर हरी-हरी घास पर लेटा हुआ था, ऋतु अत्यन्त सुहावनी थी। ज्ञानसरोवर के स्वच्छ निर्मल जल में आकाश और पर्वत-श्रेणी का प्रतिबिम्ब, जलपक्षियों का पानी पर तैरना, शुभ्र हिमश्रेणी का सूर्य के प्रकाश से चमकना आदि दृश्य ऐसे मनोहर थे कि मैं आत्मोल्लास से विह्वल हो गया। मैंने स्विटजरलैंड और अमेरिका के बहुप्रशंसित दृश्य देखे हैं, पर उनमें यह शांतिप्रद शोभा कहाँ! मानव-बुद्धि ने उनके प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी कृत्रिमता से कलंकित कर दिया है। मैं तल्लीन होकर इस स्वर्गीय आनन्द का उपभोग कर रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि एक सिंह पर जा पड़ी, जो मन्दगति से कदम बढ़ाता हुआ मेरी ओर आ रहा था। उसे देखते ही मेरा ख़ून सूख गया, होश उड़ गये। ऐसा वृहदाकार भयंकर जंतु मेरी नजर से न गुजरा था। वहाँ ज्ञानसरोवर के अतिरिक्त कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ भागकर अपनी जान बचाता। मैं तैरने में कुशल हूँ, पर मैं ऐसा भय-भीत हो गया कि अपने स्थान से हिल न सका। मेरे अंग-प्रत्यंग मेरे काबू से बाहर थे। समझ गया कि मेरी ज़िन्दगी यहीं तक थी। इस शेर के पंजे से बचने की कोई आशा न थी। अकस्मात् मुझे स्मरण हुआ कि मेरी जेब में एक पिस्तौल गोलियों से भरी हुई रखी है, जो मैंने आत्मरक्षा के लिए चलते समय साथ ले ली थी, और अब तक

प्राणपण से इसकी रक्षा करता आया था। आश्चर्य है कि इतनी देर तक मेरी स्मृति कहाँ सोई रही। मैंने तुरन्त ही पिस्तौल निकाली और निकट था कि शेर पर वार करूँ कि मेरे कानों में यह शब्द सुनाई दिये, "मुसाफिर, ईश्वर के लिये वार न करना अन्यथा तुझे दुःख होगा। सिंहराज से तुझे हानि न पहुँचेगी।"

मैंने चकित होकर पीछे की ओर देखा तो एक युवती रमणी आती हुई दिखायी दी। उसके एक हाथ में सोने का लोटा था और दूसरे में एक तश्तरी। मैंने जर्मनी की हूरें और कोहकाफ की परियाँ देखी हैं, पर हिमाचल पर्वत की यह अप्सरा मैंने एक ही बार देखी और उसका चित्र आज तक हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। मुझे स्मरण नहीं कि 'रफैल' या 'कारेजियो' ने भी कभी ऐसा चित्र खींचा हो। 'वैंडाइक' और 'रेमब्राड' के आकृतिचित्रों में भी ऐसी मनोहर छवि नहीं देखा। पिस्तौल मेरे हाथ से गिर पड़ी। कोई दूसरी शक्ति इस समय मुझे अपनी भयावह परिस्थिति से निश्चिन्त न कर सकती थी।

मैं उस सुन्दरी की ओर देख ही रहा था कि वह सिंह के पास आयी। सिंह उसे देखते ही खड़ा हो गया और मेरी ओर सशंक नेत्रों से देखकर मेघ की भाँति गर्जा। रमणी ने एक रूमाल निकालकर उसका मुँह पोंछा और फिर लोटे से दूध उँड़ेलकर उसके सामने रख दिया। सिंह दूध पीने लगा। मेरे विस्मय की अब कोई सीमा न थी। चकित था कि यह कोई तिलस्म है या जादू। व्यवहार-लोक में हूँ अथवा विचार-लोक में सोता हूँ या जागता। मैंने बहुधा सरकसों में पालतू शेर देखे हैं, उन्हें काबू में रखने के लिए किन-किन रक्षा-विधानों से काम लिया जाता है! उसके प्रतिकूल यह मांसाहारी पशु उस रमणी के सम्मुख इस भांति लेटा हुआ है मानों वह सिंह की योनि में कोई मृग-शावक है। मन में प्रश्न हुआ, सुन्दरी में कौन-सी चमत्कारिक शक्ति है जिसने सिंह को इस भाँति वशीभूत कर लिया है? क्या पशु भी अपने हृदय में कोमल और रसिक-भाव छिपाये रखते हैं? कहते हैं कि महुअर का अलाप काले नाग को भी मस्त कर देता है। जब ध्वनि में यह सिद्धि है तो सौन्दर्य की शक्ति का अनुमान कौन कर सकता है। रूप-लालित्य संसार का सबसे अमूल्य रत्न है, प्रकृति के रचना-नैपुण्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।

जब सिंह दूध पी चुका तो सुन्दरी ने रूमाल से उसका मुँह पोंछा और

उसका सिर अपनी जाँघ पर रख उसे थपकियाँ देने लगी। सिंह पूँछ हिलाता था और सुन्दरी की अरुणवर हथेलियों को चाटता था। थोड़ी देर के बाद दोनों एक गुफा में अन्तर्हित हो गये। मुझे भी धुन सवार हुई कि किसी प्रकार इस तिलिस्म को खोलूँ, इस रहस्य का उद्घाटन करूँ। जब दोनों अदृश्य हो गये तो मैं भी उठा और दबे पाँव उस गुफा के द्वार तक जा पहुँचा। भय से मेरे शरीर की बोटी बोटी काँप रही थी, मगर इस रहस्यपट को खोलने की उत्सुकता भय को दबाये हुए थी। मैंने गुफा के भीतर झाँका तो क्या देखता हूँ कि पृथ्वी पर जरी का फर्श बिछा हुआ है और कारचोबी गावतकिये लगे हुए हैं। सिंह मसनद पर गर्व से बैठा हुआ है। सोने-चाँदी के पात्र, सुन्दर चित्र, फूलों के गमले सभी अपने-अपने स्थान पर सजे हुए हैं, और वह गुफा राजभवन को भी लज्जित कर रही है।

द्वार पर मेरी परछाईं देखकर वह सुन्दरी बाहर निकल आयी और मुझसे कहा—"यात्री तू कौन है और इधर क्योंकर आ निकला ?"

कितनी मनोहर ध्वनि थी। मैंने अबकी बार समीप से देखा तो सुन्दरी का मुख कुम्हलाया हुआ था। उसके नेत्रों से निराशा झलक रही थी, उसके स्वर में भी करुणा और व्यथा की खटक थी। मैंने उत्तर दिया—"देवी, मैं यूरोप का निवासी हूँ, यहाँ देशाटन करने आया हूँ। मेरा परम सौभाग्य है कि आपसे सम्भाषण करने का गौरव प्राप्त हुआ।" सुन्दरी के गुलाब-से ओठों पर मधुर मुसकान की झलक दिखायी दी, उसमें कुछ कुटिल हास्य का भी अंश था। कदाचित् यह मेरे इस अस्वाभाविक वाक्य प्रणाली का द्योतक था। "तू विदेश से यहाँ आया है। आतिथ्य-सत्कार हमारा कर्त्तव्य है। मैं आज तेरा निमन्त्रण करती हूँ, स्वीकार कर।"

मैंने अवसर देखकर उत्तर दिया—"आपकी यह कृपा मेरे लिए गौरव की बात है, पर इस रहस्य ने मेरी भूख-प्यास बन्द कर दी है। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस पर कुछ प्रकाश डालेंगी ?

सुन्दरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—"मेरी रामकहानी विपत्ति की एक बड़ी कथा है, तुम्हे सुनकर दुःख होगा।" किन्तु मैंने जब बहुत आग्रह किया तो उसने मुझे फर्श पर बैठने का संकेत किया और अपना वृत्तांत सुनाने लगी—

"मैं काश्मीर देश की रहनेवाली राजकन्या हूँ। मेरा विवाह एक राजपूत योद्धा से हुआ था। उनका नाम नृसिंहदेव था। हम दोनों बड़े आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। संसार का सर्वोत्तम पदार्थ रूप है, दूसरा स्वास्थ्य और तीसरा धन। परमात्मा ने हमको ये तीनों ही पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्रदान किये थे। खेद है कि मैं उनसे मुलाकात नहीं करा सकती। ऐसा साहसी, ऐसा सुन्दर, ऐसा विद्वान् पुरुष सारे काश्मीर में न था। मैं उनकी आराधना करती थी। उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह था। कई वर्षों तक हमारा जीवन एक जलस्रोत की भाँति वृक्ष-पुञ्जों और हरे हरे मैदानों में प्रवाहित होता रहा।

मेरे पड़ोस में एक मन्दिर था। पुजारी एक पण्डित श्रीधर थे। हम दोनों प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय उस मन्दिर में उपासना के लिए जाते। मेरे स्वामी कृष्ण के भक्त थे। मन्दिर एक सुरम्य सागर के तट पर बना हुआ था। वहाँ की परिष्कृत मन्द समीर चित्त को पुलकित कर देती थी। इसलिए हम उपासना के पश्चात् भी वहाँ घंटों वायु-सेवन करते रहते थे। श्रीधर बड़े विद्वान्, वेदों के ज्ञाता, शास्त्रों के जाननेवाले थे। कृष्ण पर उनकी भी अविचल भक्ति थी। समस्त काश्मीर में उनके पाण्डित्य की चर्चा थी। वह बड़े संयमी, सन्तोषी, आत्मज्ञानी पुरुष थे। उनके नेत्रों से शान्ति की ज्योतिरेखाएँ निकलती हुई मालूम होती थीं; सदैव परोपकार में मग्न रहते थे। उनकी वाणी ने कभी किसी का हृदय नहीं दुखाया। उनका हृदय नित्य परवेदना से पीड़ित रहता था।

पण्डित श्रीधर मेरे पतिदेव से लगभग दस वर्ष बड़े थे, पर उनकी धर्मपत्नी विद्याधरी मेरी समवयस्का थीं। हम दोनों सहेलियाँ थीं। विद्याधरी अत्यन्त गम्भीर, शान्त प्रकृति की स्त्री थीं। यद्यपि रंग रूप में वह रानी थीं, पर वह अपनी अवस्था से सन्तुष्ट थीं। अपने पति को वह देवतुल्य समझती थीं।

श्रावण का महीना था। आकाश पर काले-काले बादल मँडरा रहे थे, मानों काजल के पर्वत उड़े जा रहे हैं। झरनों से दूध की धारें निकल रही थीं, और चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। नन्हीं-नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं, मानों स्वर्ग से अमृत की बूँदें टपक रही हैं। जल की बूँदें फूलों और पत्तियों के गले में चमक रही थीं। चित्त को अभिलाषाओं से उभारनेवाला समा छाया हुआ

था। यह वह समय है जब रमणियों को विदेशगामी प्रियतम की याद रुलाने लगती है, जब हृदय किसी से आलिंगन करने के लिए व्यग्र हो जाता है। जब सूनी सेज देखकर कलेजे में हूक सी उठती है। इसी ऋतु में विरह की मारी वियोगिनियाँ अपनी बीमारी का बहाना करती है, जिसम उसका पति उसे देखने आवे। इसी ऋतु में माली की कन्या धानी साड़ी पहनकर क्यारियों में अठिलाती हुई चम्पा और वेले के फूलों से आँचल भरती है, क्योंकि हार और गजरों की माँग बहुत बढ़ जाती है। मैं और विद्याधरी ऊपर छत पर बैठी हुई वर्षाऋतु की बहार देख रही थी और कालिदास का ऋतुसंहार पढ़ती थी कि इतने में मेरे पति ने आकर कहा—"आज बड़ा सुहावना दिन है। झूला झूलने में बड़ा आनन्द आयेगा।" सावन में झूला झूलने का प्रस्ताव क्योंकर रद्द किया जा सकता था। इन दिनों प्रत्येक रमणी का चित्त आप ही आप झूला झूलने के लिए विकल हो जाता हैं। जब वन के वृक्ष झूला झूलते हों, जल की तरगें झूला झूलती हों और गगन मण्डल के मेघ झूला झूलते हों, जब सारी प्रकृति आन्दोलित हो रही हो तो रमणी का कोमल हृदय क्यों न चचल हो जाय! विद्याधरी भी राजी हो गयीं। रेशम की डोरियाँ कदम की डाल पर चढ़ गयीं। चन्दन का पटरा रख दिया गया और मैं विद्याधरी के साथ झूला झूलने चली। जिस प्रकार ज्ञानसरोवर पवित्र जल से परिपूर्ण हो रहा है उसी भाँति हमारे हृदय पवित्र आनन्द से परिपूर्ण थे। किन्तु शोक! वह कदाचित् मेरे सौभाग्यचन्द्र की अंतिम झलक थी। मैं झूले के पास पहुँचकर पटरे पर जा बैठी, किन्तु कोमलांगी विद्याधरी ऊपर न आ सकी। वह कई बार उचकी, परन्तु पटरे तक न आ सकी। तब मेरे पतिदेव ने सहारा देने के लिए उसकी बाँह पकड़ ली। उस समय उनके नेत्रों में एक विचित्र तृष्णा की झलक थी और मुख पर एक विचित्र आतुरता। वह धीमे स्वरों में मल्हार गा रहे थे, किन्तु विद्याधरी जब पटरे पर आयी तो उसका मुख डूबते हुए सूर्य की भाँति लाल हो रहा था, नेत्र अरुण-वर्ण हो रहे थे। उसने पतिदेव की ओर क्रोधोन्मत्त होकर कहा—

"तूने काम के वश होकर मेरे शरीर में हाथ लगाया है। मैं अपने पतिव्रत के बल से तुझे शाप देती हूँ कि तू इसी क्षण पशु हो जा।"

यह कहते ही विद्याधरी ने अपने गले से रुद्राक्ष की माला निकालकर मेरे

पतिदेव के ऊपर फेंक दिया और तत्क्षण ही पटरे के समीप मेरे पतिदेव के स्थान पर एक विशाल सिंह दिखाई दिया।

(२)

ऐ मुसाफिर, अपने प्रिय पतिदेवता की यह गति देखकर मेरा रक्त सूख गया और कलेजे पर बिजली सी आ गिरी। मैं विद्याधरी के पैरों से लिपट गयी और फूट फूटकर रोने लगी। उस समय अपनी आँखों से देखकर अनुभव हुआ कि पातिव्रत की महिमा कितनी प्रबल है। ऐसी घटनाएँ मैंने पुराणों में पढ़ी थीं, परन्तु मुझे विश्वास न था कि वर्त्तमान काल में जब कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में स्वार्थ की मात्रा दिनों दिन अधिक होती जाती है, पातिव्रत धर्म में यह प्रभाव होगा; परन्तु यह नहीं कह सकती कि विद्याधरी के विचार कहाँ तक ठीक थे। मेरे पति विद्याधरी को सदैव बहिन कहकर संबोधित करते थे। वह अत्यन्त स्वरूपवान थे और रूपवान पुरुष की स्त्री का जीवन बहुत सुखमयी नहीं होता; पर मुझे उन पर संशय करने का अवसर कभी नहीं मिला। वह स्त्रीव्रतधर्म का वैसा ही पालन करते थे जैसे सती अपने धर्म का। उनकी दृष्टि में कुचेष्टा न थी और विचार अत्यन्त उज्ज्वल और पवित्र थे। यहाँ तक कि कालिदास की शृंगारमय कविता भी उन्हें प्रिय न थी, मगर काम के मर्मभेदी बाणों से कौन बचा है! जिस काम ने शिव-ब्रह्मा जैसे तपस्वियों की तपस्या भंग कर दी, जिस काम ने नारद और विश्वामित्र जैसे ऋषियों के माथे पर कलंक का टीका लगा दिया, वह काम सब कुछ कर सकता है। सम्भव है कि सुरापान ने उद्दीपक ऋतु के साथ मिलकर उनके चित्त को विचलित कर दिया हो। मेरा गुमान तो यह है कि वह विद्याधरी की केवल भ्राति थी। जो कुछ भी हो, उसने शाप दे दिया। उस समय मेरे मन में भी उत्तेजना हुई कि जिस शक्ति का विद्याधरी को गर्व है, क्या वह शक्ति मुझमें नहीं है? क्या मैं पतिव्रता नहीं हूँ? किन्तु हा! मैंने कितना ही चाहा कि शाप के शब्द मुँह से निकालूँ, पर मेरी ज़बान बन्द हो गयी! अखण्ड विश्वास जो विद्याधरी को अपने पातिव्रत पर था, मुझे न था। विवशता ने मेरे प्रतिकार के आवेग को शांत कर दिया। मैंने बड़ी दीनता के साथ कहा—बहिन, तुमने यह क्या किया?

विद्याधरी ने निर्दय होकर कहा—मैंने कुछ नहीं किया। यह उसके कर्मों का फल है।

मैं—तुम्हें छोड़कर और किसकी शरण जाऊँ, क्या तुम इतनी दया न करोगी ?

विद्याधरी—मेरे किये अब कुछ नहीं हो सकता।

मैं—देवि, तुम पातिव्रतधारिणी हो, तुम्हारे वाक्य की महिमा अपार है। तुम्हारा क्रोध यदि मनुष्य से पशु बना सकता है, तो क्या तुम्हारा दया पशु से मनुष्य न बना सकेगी ?

विद्याधरी—प्रायश्चित्त करो। इसके अतिरिक्त उद्धार का और कोई उपाय नहीं।

ऐ मुसाफिर, मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैंने विद्याधरी से अधिक अनुनय-विनय नहीं की। उसका हृदय दया का आगार था। यदि मैं उसके चरणों पर शीश रख देती तो कदाचित् उसे मुझपर दया आ जाती, किन्तु राजपूत की कन्या इतना अपमान नहीं सह सकती। वह घृणा के घाव सह सकती है, क्रोध की अग्नि सह सकती है, पर दया का बोझ उससे नहीं उठाया जाता। मैंने पटरे से उतरकर पतिदेव के चरणों पर सिर झुकाया और उन्हें साथ लिए हुए अपने मकान चली आयी।

(३)

कई महीने गुजर गये। मैं पतिदेव की सेवा शुश्रूषा में तन-मन से व्यस्त रहती। यद्यपि उनकी जिह्वा वाणीविहीन हो गयी थी, पर उनकी आकृति से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह अपने कर्म से लज्जित थे। यद्यपि उनका रूपान्तर हो गया था, पर उन्हें मांस से अत्यन्त घृणा थी। मेरी पशुशाला में सैकड़ों गायें-भैंसें थीं, किन्तु शेरसिंह ने कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। मैं उन्हें दोनों वेला दूध पिलाती और संध्या समय उन्हें साथ लेकर पहाड़ियों की सैर कराती। मेरे मन में न जाने क्यों धैर्य और साहस का इतना संचार हो गया था कि मुझे अपनी दशा असह्य न जान पड़ती थी। मुझे निश्चय था कि शीघ्र ही इस विपत्ति का अन्त भी होगा।

इन्हीं दिनों हरिद्वार में गंगा स्नानका मेला लगा। मेरे नगर से यात्रियों

का एक समूह हरिद्वार चला। मैं भी उनके साथ हो ली। दीन दुखीजनों को दान देने के लिए रुपयों और अशर्फियों की थैलियाँ साथ ले लीं। मैं प्रायश्चित्त करने जा रही थी, इसलिए पैदल ही यात्रा करने का निश्चय कर लिया। लगभग एक महीने में हरिद्वार जा पहुँची। यहाँ भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत से असंख्य यात्री आये हुए थे। संन्यासियों और तपस्वियों की संख्या गृहस्थों से कुछ ही कम होगी। धर्मशालों मे रहने का स्थान न मिलता था। गंगातट पर, पर्वतों की गोद मे, मैदानों के वक्षःस्थल पर जहाँ देखिए आदमी ही आदमी नजर आते थे। दूर से वह छोटे-छोटे खिलौने की भाँति दिखायी देते थे। मीलों तक आदमियों का फर्श-सा बिछा हुआ था। भजन और कीर्तन की ध्वनि नित्य कानों मे आती रहती थी। हृदय में असीम शुद्धि गंगा की लहरों की भाँति लहरें मारती थी। यहाँ का जल, वायु, आकाश सब शुद्ध था।

मुझे हरिद्वार आये तीन दिन व्यतीत हुए थे। प्रभात का समय था। मैं गंगा में खड़ी स्नान कर रही थी। सहसा मेरी दृष्टि ऊपर की ओर उठी, तो मैंने किसी आदमी को पुल की ओर झाँकते देखा। अकस्मात् उस मनुष्य का पाँव ऊपर उठ गया और सैकड़ों गज की ऊँचाई से गंगा में गिर पड़ा। सहस्रों आँखें यह दृश्य देख रही थीं, पर किसी का साहस न हुआ कि उस अभागे मनुष्य की जान बचाये। भारतवर्ष के अतिरिक्त ऐसा सहवेदना शून्य और कौन देश होगा और यह वह देश है जहाँ परमार्थ मनुष्य के कर्त्तव्य बताया गया है। लोग बैठे हुए अपगुओं की भाँति तमाशा देख रहे थे। सभी हतबुद्धि से हो रहे थे। धारा प्रबल वेग से प्रवाहित थी और जल बर्फ से भी अधिक शीतल। मैंने देखा कि वह धारा के साथ बहता चला जाता था। यह हृदय-विदारक दृश्य मुझसे न देखा गया। मैं तैरने में अभ्यस्त थी। मैंने ईश्वर का नाम लिया और मन को दृढ़ करके धारा के साथ तैरने लगी। ज्यों ज्यों मैं आगे बढ़ती थी वह मनुष्य मुझसे दूर होता जाता था। यहाँ तक कि मेरे सारे अंग ठंड से शून्य हो गये।

मैंने कई बार चट्टानों को पकड़कर दम लिया कई बार पत्थरों से टकराई। मेरे हाथ ही न उठते थे। सारा शरीर बर्फ का ढाँचा-सा बना हुआ था। मेरे अंग ऐसे गतिहीन हो गये कि मैं धारा के साथ बहने लगी और मुझे विश्वास

हो गया कि गंगामाता के उदर ही मे मेरी जल-समाधि होगी। अकस्मात् मैंने उस पुरुष की लाश को एक चट्टान पर रुकते देखा। मेरा हौसला बँध गया। शरीर मे एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हुआ। मैं जोर लगाकर प्राणपण से उस चट्टान पर जा पहुँची और उसका हाथ पकड़कर खींचा। मेरा कलेजा धक से हो गया। यह श्रीधर पण्डित थे।

ऐ मुसाफिर, मैंने यह काम प्राणो को हथेली पर रखकर पूरा किया। जिस समय मैं पण्डित श्रीधर की अर्धमृत देह लिए तट पर आयी तो सहस्रो मनुष्यों की जयध्वनि से आकाश गूँज उठा। कितने ही मनुष्यों ने मेरे चरणों पर सिर झुकाये। अभी लोग श्रीधर को होश मे लाने के उपाय कर ही रहे थे कि विद्याधरी मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उसका मुख प्रभात के चन्द्र की भाँति कांतिहीन हो रहा था, होठ सूखे हुए, बाल बिखरे हुए। आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। वह जोर से हाँफ रही थी, दौड़कर मेरे पैरो से चिमट गयी, किन्तु दिल खोलकर नहीं, निर्मल भाव से नहीं। एक की आँखें गर्व से भरी हुई थीं और दूसरे की ग्लानि से झुकी हुईं। विद्याधरी के मुँह से बात न निकलती थी। केवल इतना बोली—'बहिन, ईश्वर तुमको इस सत्कार्य का फल दें।'

(४)

ऐ मुसाफिर, यह शुभकामना विद्याधरी के अन्तःस्थल से निकली थी। मैं उसके मुँह से यह आशीर्वाद सुनकर फूली न समाई। मुझे विश्वास हो गया कि अबकी बार जब मैं अपने मकान पर पहुँचूँगी तो पतिदेव मुस्कराते हुए मुझसे गले मिलने के लिए द्वार पर आयेंगे। इस विचार से मेरे हृदय मे गुदगुदी-सी होने लगी। मैं शीघ्र ही स्वदेश को चल पड़ी। उत्कण्ठा मेरे कदम बढ़ाये जाती थी। मैं दिन में भी चलती और रात को भी चलती, मगर पैर थकना ही न जानते थे। यह आशा कि वह मोहनीमूर्ति द्वार पर मेरा स्वागत करने के लिए खड़ी होगी, मेरे पैरो मे पर-सा लगाये हुए थी। एक महीने की मंजिल मैंने एक सप्ताह में तय की। पर शोक! जब मकान के पास पहुँची, तो उस घर को देखकर दिल बैठ गया और हिम्मत न पड़ी कि अन्दर कदम रखूँ। मैं चौखट पर बैठकर देर तक विलाप करती रही। न किसी नौकर का पता था,

न कहीं पाले हुए पशु ही दिखाई देते थे। द्वार पर धूल उड़ रही थी। जान पड़ता था कि पक्षी घोंसले से उड़ गया है, कलेजे पर पत्थर की सिल रखकर भीतर गयी तो क्या देखती हूँ कि मेरा प्यारा सिंह आँगन में मोटी-मोटी जञ्जीरों से बँधा हुआ है। इतना दुर्बल हो गया है कि उसके कूल्हों की हड्डियाँ दिखाई दे रही हैं। ऊपर-नीचे जिधर देखती थी, उजाड़-सा मालूम होता था। मुझे देखते ही शेरसिंह ने पूँछ हिलाई और सहसा उनकी आँखें दीपक की भाँति चमक उठीं। मैं दौड़कर उनके गले से लिपट गयी, समझ गयी कि नौकरों ने दगा की। घर की सामग्रियों का कहीं पता न था। सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्र फर्श आदि सब गायब थे। हाय! हत्यारे मेरे आभूषणों का संदूक भी उठा ले गये। इस अपहरण ने मुसीबत का प्याला भर दिया। शायद पहले उन्होंने शेरसिंह को जकड़कर बाँध दिया होगा, फिर ख़ूब दिल खोलकर नोच-खसोट की होगी। कैसी विडम्बना थी कि धर्म लूटने गयी थी और धन लुटा बैठी। दरिद्रता ने पहली बार अपना भयकर रूप दिखाया।

ऐ मुसाफिर, इस प्रकार लुट जाने के बाद वह स्थान आँखों में काँटे की तरह खटकने लगा। यही वह स्थान था, जहाँ हमने आनन्द के दिन काटे थे। इन्हीं क्यारियों में हमने मृगों की भाँति कलोल किये थे। प्रत्येक वस्तु से कोई-न-कोई स्मृति सम्बन्धित थी। उन दिनों को याद करके आँखों से रक्त के आँसू बहने लगते थे। वसन्त की ऋतु थी, बौर की महक से वायु सुगन्धित हो रही थी। महुए के वृक्षों के नीचे परियों के शयन करने के लिए मोतियों की शय्या बिछी हुई थी, करौंदों और नीबू के फूलों की सुगन्धि से चित्त प्रसन्न हो जाता था। मैंने अपनी जन्मभूमि को सदैव के लिए त्याग दिया। मेरी आँखों से आँसुओं की एक बूँद भी न गिरी। जिस जन्म-भूमि की याद यावज्जीवन हृदय को व्यथित करती रहती है, उससे मैंने यों मुँह मोड़ लिया मानो कोई बन्दी कारागार से मुक्त हो जाय। एक सप्ताह तक मैं चारों ओर भ्रमण करके अपने भावी निवासस्थान का निश्चय करती रही। अन्त में सिन्धु नदी के किनारे एक निर्जन स्थान मुझे पसन्द आया। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर था। शायद किसी समय में वहाँ देवताओं का वास था; पर इस समय वह बिल्कुल उजाड़ था। देवताओं ने काल को विजय किया हो; पर सम्म-

सजते थे। वह लज्जा और ग्लानि की मूर्ति बनी हुई थी। वह पैरों पर गिर पड़ी, पर मुँह से कुछ न बोली।

उस गुफा में पल भर भी ठहरना अत्यन्त शकाप्रद था। न जाने कब डाकू फिर सशस्त्र होकर आ जायँ। उधर चिताग्नि भी शात होने लगी और उस सती की भीषण काया अत्यन्त तेज रूप धारण करके हमारे नेत्रों के सामने ताण्डव क्रीड़ा करने लगी। मैं बड़ी चिंता में पड़ी कि इन दोनों प्राणियो को कैसे वहाँ से निकालूँ। दोनों ही रक्त से चूर थे। शेरसिंह ने मेरे असमजस को ताड़ लिया। रूपान्तर हो जाने के बाद उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र हो गई थी। उन्होंने मुझे संकेत किया कि दोनों को हमारी पीठ पर बिठा दो। पहले तो मैं उनका आशय न समझी, पर जब उन्होंने सकेत को बार-बार दुहराया तो मैं समझ गयी। गूँगों के घरवाले ही गूँगों की बातें ख़ूब समझते हैं। मैंने पण्डित श्रीधर को गोद मे उठाकर शेरसिंह की पीठ पर बिठा दिया। उनके पीछे विद्याधरी को भी बिठाया। नन्हा बालक भालू की पीठ पर बैठकर जितना डरता है, उससे कहीं ज्यादा यह दोनों प्राणी भयभीत हो रहे थे। चिताग्नि के क्षीण प्रकाश मे उनके भयविकृत मुख देखकर करुण विनोद होता था। अस्तु मैं इन दोनों प्राणियों को साथ लेकर गुफा से निकली और फिर उसी तिमिरसागर को पार करके मन्दिर आ पहुँची।

मैंने एक सप्ताह तक उनका यथाशक्ति सेवा-सत्कार किया। जब वह भली-भाँति स्वस्थ हो गये तो मैंने उन्हें विदा किया। ये स्त्री-पुरुष कई आदमियो के साथ टेढ़ी जा रहे थे, यहाँ के राजा पण्डित श्रीधर के शिष्य हैं। पण्डित श्रीधर का घोड़ा आगे था, विद्याधरी सवारी का अभ्यास न होने के कारण पीछे थी, उनके दोनों रक्षक भी उनके साथ थे। जब डाकुओं ने पण्डित श्रीधर को घेरा और पण्डित ने पिस्तौल से डाकू सरदार को गिराया तो कोलाहल सुनकर विद्याधरी ने घोड़ा बढ़ाया। दोनों रक्षक तो जान लेकर भागे, विद्याधरी को डाकुओ ने पुरुष समझकर घायल कर दिया और तब दोनों प्राणियों को बाँधकर गुफा में डाल दिया। शेष बातें मैंने अपनी आँखों से देखीं। यद्यपि यहाँ से विदा होते समय विद्याधरी का रोम-रोम मुझे आशीर्वाद दे रहा था। पर हा! अभी प्रायश्चित्त पूरा न हुआ था। इतना आत्म समर्पण करके भी मैं सफल मनोरथ न हुई थी।

(५)

ऐ मुसाफिर, उस प्रान्त में अब मेरा रहना कठिन हो गया। डाकू बन्दूकें लिये हुए शेरसिंह की तलाश में घूमने लगे। विवश होकर एक दिन मैं वहाँ से चल खड़ी हुई और दुर्गम पर्वतों को पार करती हुई यहाँ आ निकली। यह स्थान मुझे ऐसा पसन्द आया कि मैंने इस गुफा को अपना घर बना लिया है। आज पूरे तीन वर्ष गुजरे जब मैंने पहले-पहल ज्ञानसरोवर के दर्शन किये। उस समय भी यही ऋतु थी। मैं ज्ञानसागर में पानी भरने गयी हुई थी, सहसा क्या देखती हूँ कि एक युवक मुश्की घोड़े पर सवार रत्न जटित आभूषण पहने हाथ में चमकता हुआ भाला लिये चला जाता है। शेरसिंह को देखकर वह ठिठका और भाला सम्भालकर उनपर वार कर बैठा। तब शेरसिंह को भी क्रोध आया। उनके गरज की ऐसी गगनभेदी ध्वनि उठी कि ज्ञानसरोवर का जल आन्दोलित हो गया और उन्होंने तुरन्त घोड़े से खींचकर उसकी छाती पर पंजे रख दिये। मैं घड़ा छोड़कर दौड़ी। युवक का प्राणान्त होनेवाला ही था कि मैंने शेरसिंह के गले में हाथ डाल दिये और उनका सिर सहलाकर क्रोध शान्त किया। मैंने उनका ऐसा भयंकर रूप कभी नहीं देखा था। मुझे स्वयं उनके पास जाते हुए डर लगता था, पर मेरे मृदुवचनों ने अन्त में उन्हें वशीभूत कर लिया, वह अलग खड़े हो गये। युवक की छाती में गहरा घाव लगा था। उसे मैंने इसी गुफा में लाकर रखा और उसकी मरहम पट्टी करने लगी। एक दिन मैं कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेने के लिए उस कस्बे में गयी जिसके मन्दिर के कलश यहाँ से दिखाई दे रहे हैं; मगर वहाँ सब दूकानें बन्द थीं। बाजारों में खाक उड़ रही थी। चारों ओर सयापा छाया हुआ था। मैं बहुत देर तक इधर उधर घूमती रही, किसी मनुष्य की सूरत भी न दिखाई देती थी कि उससे वहाँ का सब समाचार पूछूँ। ऐसा विदित होता था, मानों यह अदृश्य जीवों की बस्ती है। सोच ही रहा थी कि वापस चलूँ कि घोड़ों के टापों की ध्वनि कानों में आयी और एक क्षण में एक स्त्री सिर से पैर तक काले वस्त्र धारण किये, एक काले घोड़े पर सवार आती हुई दिखायी दी। उसके पीछे कई सवार और प्यादे काली वर्दियाँ पहने आ रहे थे। अकस्मात् उस सवार स्त्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी। उसने घोड़े को एड़ लगायी और मेरे निकट

आकर कर्कश-स्वर में बोली—"तू कौन है ?" मैंने निर्भीक भाव से उत्तर दिया—"मैं ज्ञानसरोवर के तट पर रहती हूँ। यहाँ बाजार में कुछ सामग्रियाँ लेने आयी थी, किन्तु शहर में किसी का पता नहीं।" उस स्त्री ने पीछे की ओर देखकर कुछ संकेत किया और दो सवारों ने आगे बढ़कर मुझे पकड़ लिया और मेरी बाहों में रस्सियाँ डाल दीं। मेरी समझ में न आता था कि मुझे किस अपराध का दण्ड दिया जा रहा है। बहुत पूछने पर भी किसी ने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया। हाँ, अनुमान से यह प्रकट हुआ कि यह स्त्री यहाँ की रानी है। मुझे अपने विषय में तो कोई चिन्ता न थी, पर चिन्ता थी शेरसिंह की। वह अकेले घबरा रहे होंगे। भोजन का समय आ पहुँचा, कौन खिलावेगा। किस विपत्ति में फँसी। नहीं मालूम विधाता अब मेरी क्या दुर्गति करेंगे। मुझ अभागिन को इस दशा में भी शांति नहीं। इन्हीं मलिन विचारों में मग्न मैं सवारों के साथ आध घण्टे तक चलती रही कि सामने एक ऊँची पहाड़ी पर एक विशाल भवन दिखाई दिया। ऊपर चढ़ने के लिए पत्थर काटकर चौड़े जीने बनाये गये थे। हम लोग ऊपर चढ़े। वहाँ सैकड़ों ही आदमी दिखायी दिये किन्तु सब-के सब काले वस्त्र धारण किये हुए थे। मैं जिस कमरे में लाकर रखी गयी, वहाँ एक कुशासन के अतिरिक्त सजावट का और सामान न था। मैं जमीन पर बैठकर अपने नसीब को रोने लगी। जो कोई यहाँ आता था, मुझपर करुण दृष्टिपात करके चुपचाप चला जाता था। थोड़ी देर में रानी साहब आकर उसी कुशासन पर बैठ गयीं। यद्यपि उनकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक थी; परन्तु मुख पर अद्भुत कान्ति थी। मैंने अपने स्थान से उठकर उनका सम्मान किया और हाथ बाँधकर अपनी किस्मत का फैसला सुनने के लिए खड़ी हो गयी।

(६)

ऐ मुसाफिर, रानी महोदया के तेवर देखकर पहले तो मेरे प्राण सूख गये, किन्तु जिस प्रकार चंदन जैसी कठोर वस्तु में मनोहर सुगंध छिपी होती है, उसी प्रकार उनकी कर्कशता और कठोरता के नीचे मोम के सदृश हृदय छिपा हुआ था। उनका प्यारा पुत्र थोड़े ही दिन पहले युवावस्था ही में दगा दे गया था। उसी के शोक में सारा शहर मातम मना रहा था। मेरे पकड़े जाने का कारण यह था कि मैंने काले वस्त्र क्यों न धारण किये थे। यह वृत्तान्त सुनकर मैं समझ

गयी कि जिस राजकुमार का शोक मनाया जा रहा है वह वही युवक है जो मेरी गुफ़ा मे पड़ा हुआ है। मैंने उनसे पूछा, 'राजकुमार मुश्की घोड़े पर तो सवार नहीं थे?'

रानी—हाँ, हाँ, मुश्की घोड़ा था। उसे मैंने उनके लिए अरब देश से मँगवा दिया था। क्या तूने उन्हें देखा है?

मैं—हाँ, देखा है।

रानी ने पूछा—कब?

मैं—जिस दिन वह शेर का शिकार खेलने गये थे।

रानी—क्या तेरे सामने ही शेर ने उन पर चोट की थी?

मैं—हाँ, मेरी आँखों के सामने।

रानी उत्सुक होकर खड़ी हो गयी और बड़े दीन भाव से बोली—तू उनकी लाश का पता लगा सकती है?

मैं—ऐसा न कहिए, वह अमर हों। वह दो सप्ताहों से मेरे यहाँ मेहमान हैं।

रानी हर्षमय आश्चर्य से बोली—मेरा रणधीर जीवित है?

मैं—हाँ, अब उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गयी है।

रानी मेरे पैरों पर गिर पड़ी।

तीसरे दिन अर्जुन नगर की कुछ और ही शोभा थी। वायु आनन्द के मधुर स्वर से गूँजती थी, दूकानों ने फूलों का हार पहना था, बाजारों में आनन्द के उत्सव मनाये जा रहे थे। शोक के नीले वस्त्रों की जगह केसर का सुहावना रङ्ग बधाई दे रहा था। इधर सूर्य ने उषा-सागर से सिर निकाला। उधर सलामियाँ दगना आरम्भ हुईं। आगे-आगे मैं एक सब्ज़ा घोड़े पर सवार आ रही थी और पीछे राजकुमार का हाथी सुनहरे झूलों से सजा चला आता था। स्त्रियाँ अटारियों पर मङ्गल के गीत गाती थीं और पुष्पों की वृष्टि करती थीं। राज-भवन के द्वार पर रानी मोतियों से आँचल भरे खड़ी थीं, ज्योंही राजकुमार हाथी से उतरे, वह उन्हें गोद में लेने के लिए दौड़ीं और छाती से लगा लिया।

(७)

ऐ मुसाफिर, आनन्दोत्सव समाप्त होने पर जब मैं विदा होने लगी, तो रानी महोदया ने सजल नयन होकर कहा :—

"बेटी, तूने मेरे साथ जो उपकार किया है उसका फल तुझे भगवान् देंगे। तूने मेरे राजवंश का उद्धार कर दिया, नहीं तो कोई पितरों को जल देनेवाला भी न रहता। मैं तुझे कुछ विदाई देना चाहती हूँ, वह तुझे स्वीकार करनी पड़ेगी। अगर रणधीर मेरा पुत्र है, तो तू मेरी पुत्री है। तूने ही रणधीर को प्राणदान दिया है, तूने ही इस राज्य का पुनरुद्धार किया है। इसलिए इस माया-बन्धन से तेरा गला नहीं छूटेगा। मैं अर्जुननगर का प्रांत उपहार-स्वरूप तेरी भेंट करती हूँ।"

रानी की यह असीम उदारता देखकर मैं दङ्ग रह गयी। कलियुग में भी कोई ऐसा दानी हो सकता है, इसकी मुझे आशा न थी। यद्यपि मुझे धन-भोग की लालसा न थी, पर केवल इस विचार से कि कदाचित् यह सम्पत्ति मुझे अपने भाइयों की सेवा करने की सामर्थ्य दे, मैंने एक जागीरदार की जिम्मेदारियाँ अपने सिर लीं। तब से दो वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर भोग-विलास ने मेरे मन को एक क्षण के लिए भी चंचल नहीं किया। मैं कभी पलंग पर नहीं सोई। रूखी-सूखी वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाया। पति-वियोग की दशा में स्त्री तपस्विनी हो जाती है, उसकी वासनाओं का अन्त हो जाता है। मेरे पास कई विशाल भवन हैं, कई रमणीक वाटिकाएँ हैं, विषय-वासना की ऐसी कोई सामग्री नहीं है जो प्रचुर मात्रा में उपस्थित न हो, पर मेरे लिए वह सब त्याज्य हैं, भवन सूने पड़े हैं और वाटिकाओं में खोजने से भी हरियाली न मिलेगी। मैंने उनकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा। अपने प्राणाधार के चरणों से लगे हुए मुझे अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं नित्य-प्रति अर्जुननगर जाती हूँ और रियासत के आवश्यक काम-काज करके लौट आती हूँ। नौकर-चाकरों को कड़ी आज्ञा दे दी गयी है कि मेरी शांति में बाधक न हों। रियासत की सम्पूर्ण आय परोपकार में व्यय होती है। मैं उसकी कौड़ी भी अपने खर्च में नहीं लाती। आपको अवकाश हो तो आप मेरी रियासत का प्रबन्ध देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। मैंने इन दो वर्षों में बीस बड़े-बड़े तालाब बनवा दिये हैं और चालीस गोशालाएँ बनवा दी हैं। मेरा विचार है कि अपनी रियासत में नहरों का ऐसा जाल बिछा दूँ जैसे शरीर में नाड़ियों का। मैंने एक सौ कुशल वैद्य नियुक्त कर दिये हैं जो ग्रामों में विचरण करें और रोग

की निवृत्ति करें। मेरा कोई ऐसा ग्राम नहीं है जहाँ मेरी ओर से सफाई का प्रबन्ध न हो। छोटे-छोटे गाँवों में भी आपको लालटेनें जलती हुई मिलेंगी। दिन का प्रकाश ईश्वर देता है, रात के प्रकाश की व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य है। मैंने सारा प्रबन्ध पण्डित श्रीधर के हाथों में दे दिया है। सबसे प्रथम कार्य जो मैंने किया वह यह था कि उन्हें ढूँढ निकालूँ और यह भार उनके सिर रख दूँ। इस विचार से नहीं कि उनका सम्मान करना मेरा अभीष्ट था, बल्कि मेरी दृष्टि में कोई अन्य पुरुष ऐसा कर्त्तव्य-परायण, ऐसा निस्पृह, ऐसा सच्चरित्र न था। मुझे पूर्ण विश्वास था कि वह यावज्जीवन रियासत की बागडोर अपने हाथ में रखेंगे। विद्याधरी भी उनके साथ है। वही शांति और संतोष की मूर्ति, वही धर्म और व्रत की देवी। उसका पातिव्रत अब भी ज्ञानसरोवर की भाँति अपार और अथाह है। यद्यपि उसका सौंदर्य-सूर्य अब मध्याह्न पर नहीं है, पर अब भी वह रनिवास की रानी जान पड़ती है। चिन्ताओं ने उसके मुख पर शिकन डाल दिये हैं। हम दोनों कभी कभी मिल जाती हैं, किन्तु बात-चीत की नौबत नहीं आती। उसकी आँखें झुक जाती हैं। मुझे देखते ही उसके ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है और उसके माथे के जलबिन्दु दिखाई देने लगते हैं। मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि मुझे विद्याधरी से कोई शिकायत नहीं है। उसके प्रति मेरे मन में दिनों-दिन श्रद्धा और भक्ति बढ़ती जाती है। उसे देखती हूँ, तो मुझे प्रबल उत्कंठा होती है कि उसके पैरों पर पड़ूँ। पतिव्रता स्त्री के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। पर केवल इस भय से कि कदाचित् वह इसे मेरी ख़ुशामद समझे, रुक जाती हूँ। अब मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अपने स्वामी के चरणों में पड़ी रहूँ और जब इस संसार से प्रस्थान करने का समय आये तो मेरा मस्तक उसके चरणों पर हो। और अन्तिम जो शब्द मेरे मुँह से निकलें वह यही कि—'ईश्वर, दूसरे जन्म में भी इनकी चेरी बनाना।"

पाठक, उस सुन्दरी का जीवन-वृत्तान्त सुनकर मुझे जितना कुतूहल हुआ वह अकथनीय है। खेद है कि जिस जाति में ऐसी प्रतिभाशालिनी देवियाँ उत्पन्न हों उस पर पाश्चात्य के कल्पनाहीन, विश्वासहीन पुरुष उँगलियाँ उठायें! समस्त यूरोप में भी एक ऐसी सुन्दरी न होगी जिससे इसकी तुलना की जा सके। हमने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को सांसारिक सम्बन्ध समझ रखा है। उसका आध्यात्मिक

ताजमहल के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखी। फर्श की पच्चीकारी को देखकर उस पर पाँव धरते सकोच होता था। दीवारों पर निपुण चित्रकारों की रचनाएँ शोभायमान थीं। बारहदरी के दूसरे सिरे पर एक चबूतरा था जिस पर मोटी कालीनें बिछी हुई थीं। मैं फर्श पर बैठ गया। इतने में एक लम्बे कद का रूपवान् पुरुष अन्दर आता हुआ दिखायी दिया। उसके मुख पर प्रतिभा की ज्योति झलक रही थी और आँखों से गर्व टपका पड़ता था। उसकी काली और भाले की नोक के सदृश तनी हुई मूँछे, उसके भौंरे की तरह काले घूँघरराले बाल उसकी आकृति की कठोरता को नम्र कर देते थे। विनयपूर्ण वीरता का इससे सुन्दर चित्र नहीं खिंच सकता था। उसने मेरी ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—"आप मुझे पहचानते हैं?" मैं अदब से खड़ा होकर बोला—"मुझे आपसे परिचय का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ।" वह कालीन पर बैठ गया और बोला, "मैं शेरसिंह हूँ।" मैं अवाक् रह गया। शेरसिंह ने फिर कहा, "क्या आप प्रसन्न नहीं हैं कि आपने मुझे पिस्तौल का लक्ष्य नहीं बनाया? मैं तब पशु था अब मनुष्य हूँ।" मैंने कहा, "आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। यदि आज्ञा हो, तो मैं आपसे एक प्रश्न करना चाहता हूँ।"

शेरसिंह ने मुसकराकर कहा—मैं समझ गया, पूछिए।

मैं—जब आप समझ ही गये तो मैं पूछूँ क्यों?

शेर—सम्भव है, मेरा अनुमान ठीक न हो।

मैं—मुझे भय है कि उस प्रश्न से आपको दुःख न हो।

शेर—कम से-कम आपको मुझसे ऐसी शंका न करनी चाहिए।

मैं—विद्याधरी के भ्रम में कुछ सार था?

शेरसिंह ने सिर झुकाकर कुछ देर में उत्तर दिया—जी हाँ, था। जिस वक्त मैंने उसकी कलाई पकड़ी थी उस समय आवेश से मेरा एक-कए अग काँप रहा था। मैं विद्याधरी के उस अनुग्रह को मरणपर्यन्त न भूलूँगा। मगर इतना प्रायश्चित्त करने पर भी मुझे अपनी ग्लानि से निवृत्ति नहीं हुई। ससार की कोई वस्तु स्थिर नहीं, किन्तु पाप की कालिमा अमर और अमिट है। यश और कीर्ति कालान्तर में मिट जाती है किन्तु पाप का धब्बा नहीं मिटता। मेरा विचार है कि ईश्वर भी दाग़ को नहीं मिटा सकता। कोई तपस्या, कोई दण्ड, कोई

प्रायश्चित्त इस कालिमा को नहीं धो सकता। पतितोद्धार की कथाएँ और तोबा या कन्फेशन करके पाप से मुक्त हो जाने की बातें, यह सब संसार-लिप्सी पाखंडी धर्मावलम्बियों की कल्पनाएँ हैं।

हम दोनों यही बातें कर रहे थे कि रानी प्रियवदा सामने आकर खड़ी हो गयीं। मुझे आज अनुभव हुआ, जो बहुत दिनों से पुस्तकों में पढ़ा करता था कि सौंदर्य में प्रकाश होता है। आज इसकी सत्यता मैंने अपनी आँखों से देखी। मैंने जब उन्हें पहले देखा था तो निश्चय किया था कि यह ईश्वरीय कलानैपुण्य की पराकाष्ठा है; परन्तु अब जब मैंने उन्हें दोबारा देखा, तो ज्ञात हुआ कि वह इस असल की नकल थी। प्रियंवदा ने मुसकराकर कहा—'मुसाफिर, तुम्हें स्वदेश में भी कभी हम लोगों की याद आयी थी?' अगर मैं चित्रकार होता तो उसके मधुर हास्य को चित्रित करके प्राचीन गुणियों को चकित कर देता। उसके मुँह से यह प्रश्न सुनने के लिए मैं तैयार न था। यदि इसी भाँति मैं उसका उत्तर देता तो शायद वह मेरी धृष्टता होती और शेरसिंह के तेवर बदल जाते। मैं यह भी न कह सका कि मेरे जीवन का सबसे सुखद भाग वही था, जो ज्ञानसरोवर के तट पर व्यतीत हुआ था; किन्तु मुझे इतना साहस भी न हुआ। मैंने दबी जबान से कहा—"क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ?"

(८)

तीन दिन बीत गये। इन तीनों दिनों में खूब मालूम हो गया कि पूर्व को आतिथ्यसेवी क्यों कहते हैं। यूरोप का कोई दूसरा मनुष्य जो यहाँ की सभ्यता से अपरिचित न हो, इन सत्कारों से ऊब जाता। किन्तु मुझे इन देशों के रहन-सहन का बहुत अनुभव हो चुका है और मैं इसका आदर करता हूँ।

चौथे दिन मेरी विनय पर रानी प्रियवदा ने अपनी शेष कथा सुनानी शुरू की—

ऐ मुसाफिर, मैंने तुमसे कहा था कि अपनी रियासत का शासनभार मैंने श्रीधर पर रख दिया था और अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से उन्होंने इस काम को सम्हाला है, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। ऐसा बहुत कम हुआ है कि एक विद्वान् पण्डित जिसका सारा जीवन पठन-पाठन में व्यतीत हुआ हो, एक रियासत का बोझ सम्हाले; किन्तु राजा बीरबल की भाँति पं० श्रीधर भी

सब कुछ कर सकते हैं। मैंने परीक्षार्थ उन्हें यह काम सौंपा था। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि वह इस कार्य के सर्वथा योग्य हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कुलपरम्परा ने उन्हें इस काम के लिए अभ्यस्त कर दिया है। जिस समय उन्होंने इसका काम अपने हाथ में लिया, यह रियासत एक ऊजड़ ग्राम के सदृश थी। अब वह धनधान्यपूर्ण एक नगर है। शासन का कोई ऐसा विभाग नहीं, जिस पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि न पहुँची हो।

थोड़े ही दिनों में लोग उनके शील-स्वभाव पर मुग्ध हो गये और राजा रणधीरसिंह भी उन पर कृपा-दृष्टि रखने लगे। पण्डितजी पहले शहर से बाहर एक ठाकुर द्वारे में रहते थे। किन्तु जब राजा साहब से मेल जोल बढ़ा तो उनके आग्रह से विवश होकर राजमहल में चले आये। यहाँ तक परस्पर में मैत्री और घनिष्ठता बढ़ी कि मान-प्रतिष्ठा का विचार भी जाता रहा। राजा साहब पण्डितजी से सस्कृत भी पढ़ते थे और उनके समय का अधिकाश भाग पण्डितजी के मकान पर ही कटता था, किन्तु शोक! यह विद्याप्रेम या शुद्ध मित्रभाव का आकर्षण न था। यह सौंदर्य का आकर्पण था। यदि उस समय मुझे लेशमात्र भी संदेह होता कि रणधीरसिंह की यह घनिष्ठता कुछ और ही पहलू लिये हुए है तो उसका अन्त इतना खेदजनक न होता जितना कि हुआ। उनकी दृष्टि विद्याधरी पर उस समय पड़ी जब वह ठाकुरद्वारे में रहती थी और यह सारी कुयोजनाएँ उसी का करामात थीं। राजा साहब स्वभावतः बड़े ही सच्चरित्र और सयमी पुरुष हैं, किन्तु जिस रूप ने मेरे पति जैसे देवपुरुप का ईमान डिगा दिया, वह कुछ कर सकता है।

भोली-भाली विद्याधरी मनोविकारो की इस कुटिल नीति से बेख़बर थी। जिस प्रकार छलाँगे मरता हुआ हीरन व्याध की फैलाई हुई हरी हरी घास से प्रसन्न होकर उस ओर बढ़ता है और यह नहीं समझता कि प्रत्येक पग मुझे सर्वनाश की ओर लिये जाता है, उसी भाँति विद्याधरी को उसका चचल मन अन्धकार की ओर खींचे लिये जाता था। वह राजा साहब के लिए अपने हाथों से बीड़े लगाकर भेजती, पूजा के लिए चन्दन रगड़ती। रानीजी से भी उसका बहनापा हो गया। वह एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से न जाने देतीं। दोनों साथ-साथ बाग की सैर करतीं, साथ-साथ झूला झूलतीं, साथ-साथ चौपड़

खेलती। यह उनका शृंगार करती और वह उनकी माँग-चोटी सँवारती मानों विद्याधरी ने रानी के हृदय में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो किसी समय मुझे प्राप्त था। लेकिन वह ग़रीब क्या जानती थी कि जब मैं बाग की रविशों में विचरती हूँ, तो कुवासना मेरे तलवे के नीचे आँखें बिछाती है, जब मैं झूला झूलती हूँ, तो वह आड़ में बैठी हुई आनन्द से झूमती है। इस एक सरल हृदय अबला स्त्री के लिए चारों ओर से चक्रव्यूह रचा जा रहा था।

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया, राजा साहब का रब्त-ज़ब्त दिनों-दिन बढ़ता जाता था। पण्डितजी को उनसे वह स्नेह हो गया जो गुरुजी को अपने एक होनहार शिष्य से होता है। मैंने जब देखा कि आठों पहर का यह सहवास पण्डितजी के काम में विघ्न डालता है, तो एक दिन मैंने उनसे कहा—यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो दूरस्थ देहातों का दौरा आरम्भ कर दें और इस बात का अनुसंधान करें कि देहातों में कृषकों के लिए बैंक खोलने में हमें प्रजा से कितनी सहानुभूति और कितनी सहायता की आशा करनी चाहिए। पण्डितजी के मन की बात नहीं जानती, पर प्रत्यक्ष में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दूसरे ही दिन प्रातःकाल चले गये। किन्तु आश्चर्य है कि विद्याधरी उनके साथ न गयी। अब तक पण्डितजी जहाँ कहीं जाते थे, विद्याधरी परछाईं की भाँति उनके साथ रहती थी। असुविधा या कष्ट का विचार भी उसके मन में न आता था। पण्डितजी कितना ही समझायें, कितना ही डरायें, पर वह उनका साथ न छोड़ती थी; पर अबकी बार कष्ट के विचार ने उसे कर्तव्य के मार्ग से विमुख कर दिया। पहले उसका पातिव्रत एक वृक्ष था, जो उसके प्रेम की क्यारी में अकेला खड़ा था; किन्तु अब उसी क्यारी में मैत्री का घास-पात निकल आया था, जिनका पोषण भी उसी भोजन पर अवलम्बित था।

(६)

ऐ मुसाफिर, छः महीने गुजर गये और पण्डित श्रीधर वापस न आये। पहाड़ों की चोटियों पर छाया हुआ हिम घुल घुलकर नदियों में बहने लगा, उनकी गोद में फिर रंग-बिरंग के फूल लहलहाने लगे। चन्द्रमा की किरणें फिर फूलों की महक सूँघने लगीं। सभी पर्वतों के पक्षी अपनी वार्षिक यात्रा समाप्त कर फिर स्वदेश आ पहुँचे; किन्तु पण्डितजी रियासत के कामों में ऐसे उलझे

कि मेरे निरन्तर आग्रह करने पर भी अर्जुननगर न आये। विद्याधरी की ओर से वह इतने उदासीन क्यों हुए, समझ में नहीं आता था। उन्हें तो उसका वियोग एक क्षण के लिए भी असह्य था। किन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि विद्याधरी ने भी आग्रहपूर्ण पत्रों के लिखने के अतिरिक्त उनके पास जाने का कष्ट न उठाया। वह अपने पत्रों में लिखती 'स्वामीजी, मैं बहुत व्याकुल हूँ, यहाँ मेरा जी ज़रा भी नहीं लगता। एक एक दिन एक-एक वर्ष के समान व्यतीत होता है। न दिन को चैन, न रात को नींद। क्या आप मुझे भूल गये? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ? क्या आपको मुझपर दया भी नहीं आती? मैं आपके वियोग में रो-रोकर मरी जाती हूँ। नित्य स्वप्न देखती हूँ कि आप आ रहे हैं, पर यह स्वप्न कभी सच्चा नहीं होता।' उसके पत्र ऐसे ही प्रेममय शब्दों से भरे होते थे और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जो कुछ वह लिखती थी वह भी अक्षरशः सत्य था, मगर इतनी व्याकुलता, इतनी चिन्ता और इतनी उद्विग्नता पर भी उसके मन में कभी यह प्रश्न न उठा कि क्यों न मैं ही उनके पास चली चलूँ।

बहुत ही सुहावनी ऋतु थी। ज्ञानसरोवर में यौवनकाल की अभिलाषाओं की भाँति कमल के फूल खिले हुए थे। राजा रणजीतसिंह की पचीसवीं जयन्ती का शुभ-मुहूर्त आया। सारे नगर में आनन्दोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। गृहिणियाँ कोरे-कोरे दीपक पानी में भिगोने लगीं कि वह अधिक तेल न सोख जाये। चैत्र की पूर्णिमा थी, किन्तु दीपक की जगमगाहट ने ज्योत्स्ना को मात कर दिया था। मैंने राजा साहब के लिए इस्फ़हान से एक रत्न-जटित तलवार मँगा रखी थी। दरबार के अन्य जागीरदारों और अधिकारियों ने भी भाँति-भाँति के उपहार मँगा रखे थे। मैंने विद्याधारी के घर जाकर देखा, तो वह एक पुष्पहार गूँथ रही थी। मैं आध घण्टे तक उसके सम्मुख खड़ी रही, किंतु वह अपने काम में इतनी व्यस्त थी कि उसे मेरी आहट भी न मिली। तब मैंने धीरे से पुकारा—"बहन!" विद्याधरी ने चौंककर सिर उठाया और बड़ी शीघ्रता से वह हार फूल की डाली में छिपा दिया और लज्जित होकर बोली, क्या तुम देर से खड़ी हो? मैंने उत्तर दिया, आध घंटे से अधिक हुआ।

विद्याधरी के चेहरे का रंग उड़ गया, आँखें झुक गयीं, कुछ हिचकिचाई,

कुछ घबराई, अपने अपराधी हृदय को इन शब्दों से शांत किया—'यह हार मैंने ठाकुरजी के लिए गूँथा है।' उस समय विद्याधरी की घबराहट का भेद मैं कुछ न समझी। ठाकुरजी के लिए हार गूँथना क्या कोई लज्जा की बात है? फिर जब वह हार मेरी नज़रों से छिपा दिया गया तो उसका ज़िक्र ही क्या? हम दोनों ने कितनी ही बार साथ बैठकर हार गूँथे थे। कोई निपुण मालिन भी हमसे अच्छे हार न गूँथ सकती थी; मगर इसमें शर्म क्या? दूसरे दिन यह रहस्य मेरी समझ में आ गया। वह हार राजा रणधीरसिंह को उपहार में देने के लिए बनाया गया था।

यह बहुत सुन्दर वस्तु थी। विद्याधरी ने अपना सारा चातुर्य उसके बनाने में खर्च किया था। कदाचित् यह सबसे उत्तम वस्तु थी जो राजा साहब को भेंट कर सकती थी। वह ब्राह्मणी थी। राजा साहब की गुरुमाता थी। उसके हाथों से यह उपहार बहुत ही शोभा देता था; किन्तु यह बात उसने मुझसे छिपाई क्यों?

मुझे उस दिन रातभर नींद न आई। उसके इस रहस्य-भाव ने उसे मेरी नज़रों से गिरा दिया। एक बार आँख झपकी तो मैंने उसे स्वप्न में देखा, मानों वह एक सुन्दर पुष्प है; किन्तु उसकी बास मिट गयी हो। वह मुझसे गले मिलने के लिए बढ़ी; किन्तु मैं हट गयी और बोली कि तूने मुझसे यह बात छिपाई क्यों?

(१०)

ऐ मुसाफिर, राजा रणधीरसिंह की उदारता ने प्रजा को मालामाल कर दिया। रईसों और अमीरों ने खिलअतें पाईं। किसी को घोड़ा मिला, किसी को जागीर मिली। मुझे उन्होंने श्री भगवद्गीता की एक प्रति एक मखमली बस्ते में रखकर दी। विद्याधरी को एक बहुमूल्य जड़ाऊ कंगन मिला। उस कंगन में अनमोल हीरे जड़े हुए थे। देहली के निपुण स्वर्णकारों ने इसके बनाने में अपनी कला का चमत्कार दिखाया था। विद्याधरी को अब तक आभूषणों से इतना प्रेम न था, अब तक सादगी ही उसका आभूषण और पवित्रता ही उसका शृंगार थी, पर इस कंगन पर वह लोट-पोट हो गयी।

आषाढ़ का महीना आया। घटाएँ गगनमंडल में मँडलाने लगीं। पण्डित

कि मेरे निरन्तर आग्रह करने पर भी अर्जुननगर न आये। विद्याधरी की ओर से वह इतने उदासीन क्यों हुए, समझ में नहीं आता था। उन्हें तो उसका वियोग एक क्षण के लिए भी असह्य था। किन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि विद्याधरी ने भी आग्रहपूर्ण पत्रों के लिखने के अतिरिक्त उनके पास जाने का कष्ट न उठाया। वह अपने पत्रों में लिखती 'स्वामीजी, मैं बहुत व्याकुल हूँ, यहाँ मेरा जी जरा भी नहीं लगता। एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान व्यतीत होता है। न दिन को चैन, न रात को नींद। क्या आप मुझे भूल गये? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ? क्या आपको मुझपर दया भी नहीं आती? मैं आपके वियोग में रो-रोकर मरी जाती हूँ। नित्य स्वप्न देखती हूँ कि आप आ रहे हैं, पर यह स्वप्न कभी सच्चा नहीं होता।' उसके पत्र ऐसे ही प्रेममय शब्दों से भरे होते थे और इसमें भी कोई सदेह नहीं कि जो कुछ वह लिखती थी वह भी अक्षरशः सत्य था, मगर इतनी व्याकुलता, इतनी चिन्ता और इतनी उद्विग्नता पर भी उसके मन में कभी यह प्रश्न न उठा कि क्यों न मैं ही उनके पास चली चलूँ।

बहुत ही सुहावनी ऋतु थी। ज्ञानसरोवर में यौवनकाल की अभिलाषाओं की भाँति कमल के फूल खिले हुए थे। राजा रणजीतसिंह की पचीसवीं जयन्ती का शुभ-मुहूर्त आया। सारे नगर में आनन्दोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। गृहिणियाँ कोरे-कोरे दीपक पानी में भिगोने लगीं कि वह अधिक तेल न सोख जाये। चैत्र की पूर्णिमा थी, किन्तु दीपक की जगमगाहट ने ज्योत्स्ना को मात कर दिया था। मैंने राजा साहब के लिए इस्फ़हान से एक रत्न-जटित तलवार मँगा रखी थी। दरबार के अन्य जागीरदारों और अधिकारियों ने भी भाँति-भाँति के उपहार मँगा रखे थे। मैंने विद्याधरी के घर जाकर देखा, तो वह एक पुष्पहार गूँथ रही थी। मैं आध घण्टे तक उसके सम्मुख खड़ी रही, किंतु वह अपने काम में इतनी व्यस्त थी कि उसे मेरी आहट भी न मिली। तब मैंने धीरे से पुकारा—"बहन!" विद्याधरी ने चौंककर सिर उठाया और बड़ी शीघ्रता से वह हार फूल की डाली में छिपा दिया और लज्जित होकर बोलीं, क्या तुम देर से खड़ी हो? मैंने उत्तर दिया, आध घटे से अधिक हुआ।

विद्याधरी के चेहरे का रग उड़ गया, आँखें झुक गयीं, कुछ हिचकिचाई,

कुछ घबराई, अपने अपराधी हृदय को इन शब्दों से शांत किया—'यह हार मैंने ठाकुरजी के लिए गूँथा है।' उस समय विद्याधरी की घबराहट का भेद मैं कुछ न समझी। ठाकुरजी के लिए हार गूँथना क्या कोई लज्जा की बात है? फिर जब वह हार मेरी नज़रों से छिपा दिया गया तो उसका ज़िक्र ही क्या? हम दोनों ने कितनी ही बार साथ बैठकर हार गूँथे थे। कोई निपुण मालिन भी हमसे अच्छे हार न गूँथ सकती थी; मगर इसमें शर्म क्या? दूसरे दिन यह रहस्य मेरी समझ में आ गया। वह हार राजा रणधीरसिंह को उपहार में देने के लिए बनाया गया था।

यह बहुत सुन्दर वस्तु थी। विद्याधरी ने अपना सारा चातुर्य उसके बनाने में ख़र्च किया था। कदाचित् यह सबसे उत्तम वस्तु थी जो राजा साहब की भेंट कर सकती थी। वह ब्राह्मणी थी। राजा साहब की गुरुमाता थी। उसके हाथों से यह उपहार बहुत ही शोभा देता था; किन्तु यह बात उसने मुझसे छिपाई क्यों?

मुझे उस दिन रातभर नींद न आई। उसके इस रहस्य-भाव ने उसे मेरी नज़रों से गिरा दिया। एक बार आँख झपकी तो मैंने उसे स्वप्न में देखा, मानों वह एक सुन्दर पुष्प है; किन्तु उसकी बास मिट गयी हो। वह मुझसे गले मिलने के लिए बढ़ी; किन्तु मैं हट गयी और बोली कि तूने मुझसे यह बात छिपाई क्यों?

(१०)

ऐ मुसाफ़िर, राजा रणधीरसिंह की उदारता ने प्रजा को मालामाल कर दिया। रईसों और अमीरों ने खिलअतें पाईं। किसी को घोड़ा मिला, किसी को जागीर मिली। मुझे उन्होंने श्री भगवद्‌गीता की एक प्रति एक मख़मली बस्ते में रखकर दी। विद्याधरी को एक बहुमूल्य जड़ाऊ कंगन मिला। उस कंगन में अनमोल हीरे जड़े हुए थे। देहली के निपुण स्वर्णकारों ने इसके बनाने में अपनी कला का चमत्कार दिखाया था। विद्याधरी को अब तक आभूषणों से इतना प्रेम न था, अब तक सादगी ही उसका आभूषण और पवित्रता ही उसका शृंगार थी, पर इस कंगन पर वह लोट-पोट हो गयी।

आषाढ़ का महीना आया। घटाएँ गगनमंडल में मँडलाने लगीं। पण्डित

श्रीधर को घर की सुध आयी। पत्र लिखा कि मैं आ रहा हूँ। विद्याधरी ने मकान ख़ूब साफ कराया और स्वय अपना बनाव श्रृंगार किया। उसके वस्त्रों से चन्दन की महक उड़ रही थी। उसने कगन को सदूकचे से निकाला और सोचने लगी कि इसे पहनूँ या न पहनूँ? उसके मन ने निश्चय किया कि न पहनूँगी। सदूक बद करके रख दिया।

सहसा लौंडी ने आकर सूचना दी कि पण्डितजी आ गये। यह सुनते ही विद्याधरी लपककर उठी, किन्तु पति के दर्शनों की उत्सुकता उसे द्वार की ओर नहीं ले गयी। उसने बड़ी फुर्ती से सदूकचा खोला, कगन निकाल कर पहना और अपनी सूरत आइने में देखने लगी।

इधर पण्डितजी प्रेम की उत्कठा से क़दम बढ़ाते दालान से आँगन और आँगन से विद्याधरी के कमरे में आ पहुँचे। विद्याधरी ने आकर उनके चरणों को अपने सिर से स्पर्श किया। पण्डितजी उसका यह श्रृगार देखकर दग रह गये। एकाएक उनकी दृष्टि उस कगन पर पड़ी। राजा रणधीरसिंह की सगत ने उन्हें रत्नों का पारखी बना दिया था। ध्यान से देखा तो एक-एक नगीना एक एक हजार का था। चकित होकर बोले, 'यह कगन कहाँ मिला?'

विद्याधरी ने जवाब पहले से ही सोच रखा था। रानी प्रियवदा ने दिया है। यह जीवन में पहला अवसर था कि विद्याधरी ने अपने पतिदेव से कपट किया। जब हृदय शुद्ध न हो तो मुख से सत्य क्योंकर निकले! यह कगन नहीं, वरन् एक विषैला नाग था।

(११)

एक सप्ताह गुजर गया। विद्याधरी के चित्त की शाति और प्रसन्नता लुप्त हो गयी थी। यह शब्द कि रानी प्रियवदा ने दिया है, प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करते। वह अपने को धिक्कारती कि मैंने अपने प्राणाधार से क्यों कपट किया। बहुधा रोया करती। एक दिन उसने सोचा कि क्यों न चलकर पति से सारा वृत्तान्त सुना दूँ। क्या वह मुझे क्षमा न करेंगे? यह सोचकर उठी, किंतु पति के सम्मुख जाते ही उसकी जबान बन्द हो गयी। वह अपने कमरे में आयी और फूट-फूटकर रोने लगी। कगन पहनकर उसे बहुत आनन्द हुआ था। इसी कगन ने उसे हँसाया था, अब वही रुला रहा है।

विद्याधरी ने रानी के साथ बागों में सैर करना छोड़ दिया, चौपड़ और शतरंज उसके नाम को रोया करते। वह सारे दिन अपने कमरे में पड़ी रोया करती और सोचती कि क्या करूँ। काले वस्त्र पर काला दाग छिप जाता है, किन्तु उज्ज्वल वस्त्र पर कालिमा की एक बूँद भी झलकने लगती है। वह सोचती, इसी कंगन ने मेरा सुख हर लिया है, यही कंगन मुझे रक्त के आँसू रुला रहा है। सर्प जितना सुन्दर होता है उतना ही विषाक्त भी होता है। यह सुन्दर कंगन विषधर नाग है, मैं उसका सिर कुचल डालूँगी। यह निश्चय करके उसने एक दिन अपने कमरे में कोयले का अलाव जलाया, चारों तरफ़ के किवाड़ बन्द कर दिये और उस कंगन को जिसने उसके जीवन को संकटमय बना रखा था, संदूकचे से निकालकर आग में डाल दिया। एक दिन वह था कि कंगन उसे प्राणों से भी प्यारा था, उसे मखमली सन्दूकचे में रखती थी, आज उसे इतनी निर्दयता से आग में जला रही है।

विद्याधरी अलाव के सामने बैठी हुई थी कि इतने में पण्डित श्रीधर ने द्वार खटखटाया। विद्याधरी को काटो तो लोहू नहीं। उसने उठकर द्वार खोल दिया और सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। पण्डितजी ने बड़े आश्चर्य से कमरे में निगाह दौड़ाई, पर रहस्य कुछ समझ में न आया। बोले कि किवाड़ बंद करके क्या हो रहा है? विद्याधरी ने उत्तर न दिया। तब पण्डितजी ने छड़ी उठा ली और अलाव कुरेदा तो कंगन निकल आया। उसका सम्पूर्णतः रूपान्तर हो गया था। न वह चमक थी, न वह रंग, न वह आकार। घबराकर बोले, विद्याधरी, तुम्हारी बुद्धि कहाँ है?

विद्या—भ्रष्ट हो गयी है।

पण्डित—इस कंगन ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?

विद्या—इसने मेरे हृदय में आग लगा रखी है।

पण्डित—ऐसी अमूल्य वस्तु मिट्टी में मिल गयी!

विद्या—इसने उससे भी अमूल्य वस्तु का अपहरण किया है।

पण्डित—तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है?

विद्या—शायद आपका अनुमान सत्य है।

पण्डितजी ने विद्याधरी की ओर चुभनेवाली निगाहों से देखा। विद्याधरी

की आँखें नीचे को झुक गयीं। वह उनसे आँखें न मिला सकी। भय हुआ कि कहीं यह तीव्र दृष्टि मेरे हृदय में न चुभ जाय। पण्डितजी कठोर स्वर में बोले—

विद्याधरी, तुम्हें स्पष्ट कहना होगा। विद्याधरी से अब न रुका गया, वह रोने लगी और पण्डितजी के सम्मुख धरती पर गिर पड़ी।

(१२)

विद्याधरी को जब सुध आयी तो पण्डितजी का वहाँ पता न था। घबराई हुई बाहर के दीवानखाने में आयी, मगर यहाँ भी उन्हें न पाया। नौकरों से पूछा तो मालूम हुआ कि घोड़े पर सवार होकर ज्ञानसरोवर की ओर गये हैं। यह सुनकर विद्याधरी को कुछ ढाढ़स हुआ। वह द्वार पर खड़ी होकर उनकी राह देखती रही। दोपहर हुआ, सूर्य सिर पर आया, सध्या हुई, चिड़ियाँ बसेरा लेने लगीं, फिर रात आयी, गगन में तारागण जगमगाने लगे, किन्तु विद्याधरी दीवार की भाँति खड़ी पति का इन्तजार करती रही। रात भींग गयी, वनजन्तुओं के भयानक शब्द कानों में आने लगे, सन्नाटा छा गया। सहसा उसे घोड़े के टापों की ध्वनि सुनाई दी उसका हृदय फड़कने लगा। आनन्दोन्मत्त होकर द्वार के बाहर निकल आयी, किन्तु घोड़े पर सवार न था। विद्याधरी को अब विश्वास हो गया कि अब पतिदेव के दर्शन न होंगे। या तो उन्होंने सन्यास ले लिया या आत्मघात कर लिया। उसके कंठ से नैराश्य और विषाद में डूबी हुई ठंढी साँस निकली। वहीं भूमि पर बैठ गयी और सारी रात ख़ून के आँसू बहाती रही। जब उषा की निद्रा भंग हुई और पत्ती आनन्दगान करने लगे तब वह दुखिया उठी और अन्दर जाकर लेट रही।

जिस प्रकार सूर्य का ताव जल को सोख लेता है, उसी भाँति शोक के ताव ने विद्याधरी का रक्त जला दिया। मुख से ठंढी साँस निकलती थी, आँखों से गर्म आँसू बहते थे। भोजन से अरुचि हो गयी और जीवन से घृणा। इसी अवस्था में एक दिन राजा रणधीरसिंह सहवेदना-भाव से उसके पास आये। उन्हें देखते ही विद्याधरी की आँखें रक्तवर्ण हो गयीं, क्रोध से ओठ काँपने लगे, झल्लाई हुई नागिन की भाँति फुफकारकर उठी और राजा के सम्मुख आकर कर्कश स्वर में बोली, 'पापी, यह आग तेरी ही लगायी हुई है। यदि मुझमें अब भी कुछ सत्य है, तो तुझे इस दुष्टता के कड़ुवे फल मिलेंगे।' ये तीर

के-से शब्द राजा के हृदय में चुभ गये। मुँह से एक शब्द भी न निकला। काल से न डरनेवाला राजपूत एक स्त्री की आग्नेय दृष्टि से काँप उठा।

(१३)

एक वर्ष बीत गया, हिमालय पर मनोहर हरियाली छाई, फूलों ने पर्वत की गोद में क्रीड़ा करनी शुरू की। यह ऋतु बीती, जल-थल ने बर्फ की सुफेद चादर ओढ़ी, जलपक्षियों की मालाएँ मैदानों की ओर उड़ती हुई दिखाई देने लगीं। यह मौसम भी गुजरा। नदी-नालों में दूध की धारें बहने लगीं, चन्द्रमा की स्वच्छ नि ल ज्योति मानसरोवर में थिरकने लगी, परन्तु पण्डित श्रीधर की कुछ टोह न लगी। विद्याधरी ने राजभवन त्याग दिया और एक पुराने निर्जन मन्दिर में तपस्विनियों की भाँति कालक्षेप करने लगी। उस दुखिया की दशा कितनी करुणाजनक थी। उसे देखकर मेरी आँखें भर आती थीं। वह मेरी प्यारी सखी थी। उसकी संगत में मेरे जीवन के कई वर्ष आनन्द से व्यतीत हुए थे। उसका यह अपार दुःख देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी। एक दिन वह था कि उसने अपने पातिव्रत के बल पर मनुष्य को पशु के रूप में परिणत कर दिया था, और आज यह दिन है कि उसका पति भी उसे त्याग रहा है। किसी स्त्री के हृदय पर इससे अधिक लज्जाजनक, इससे अधिक प्राणघातक आघात नहीं लग सकता। उसकी तपस्या ने मेरे हृदय में उसे फिर उसी सम्मान के पद पर बिठा दिया। उसके सतीत्व पर फिर मेरी श्रद्धा हो गयी; किन्तु उससे कुछ पूछते, सान्त्वना देते मुझे संकोच होता था। मैं डरती थी कि कहीं विद्याधरी यह न समझे कि मैं उससे बदला ले रही हूँ। कई महीनों के बाद जब विद्याधरी ने अपने हृदय का बोझ हलका करने के लिए स्वयं मुझसे यह वृत्तान्त कहा तो मुझे ज्ञात हुआ कि यह सब काँटे राजा रणधीरसिंह के बोये हुए थे। उन्हीं की प्रेरणा से रानीजी ने पण्डितजी के साथ जाने से रोका। उसके स्वभाव ने जो कुछ रंग बदला वह रानीजी ही की कुसंगत का फल था। उन्हीं की देखा-देखी उसे बनाव-श्रृंगार की चाट पड़ी, उन्हीं के मना करने से उसने कंगन का भेद पण्डितजी से छिपाया। ऐसी घटनाएँ स्त्रियों के जीवन में नित्य होती रहती हैं और उन्हें ज़रा भी शंका नहीं होती। विद्याधरी का पातिव्रत आदर्श था। इसलिए यह विचलता उसके हृदय में चुभने लगी। मैं यह नहीं

कहती कि विद्याधरी कर्त्तव्यपथ से विचलित नहीं हुई, चाहे किसी के बहकाने से, चाहे अपने भोलेपन से, उसने कर्त्तव्य का सीधा रास्ता छोड़ दिया, परन्तु पाप कल्पना उसके दिल से कोसों दूर थी।

(१४)

ऐ मुसाफिर, मैंने पण्डित श्रीधर का पता लगाना शुरू किया। मैं उनकी मनोवृत्ति से परिचित थी। वह श्रीरामचन्द्र के भक्त थे। कौशलपुरी की पवित्र भूमि और सरयू नदी के रमणीक तट उनके जीवन के सुखस्वप्न थे। मुझे खयाल आया कि सम्भव है, उन्होंने अयोध्या की राह ली हो। कहीं मेरे प्रयत्न से उनकी खोज मिल जाती और मैं उन्हें लाकर विद्याधरी के गले में मिला देती, तो मेरा जीवन सफल हो जाता। इस विरहणी ने बहुत दुःख झेले हैं। क्या अब भी देवताओं को उस पर दया न आयेगी? एक दिन मैंने शेरसिंह से कहा और पाँच विश्वस्त मनुष्यों के साथ अयोध्या को चली। पहाड़ों से नीचे उतरते ही रेल मिल गयी। उसने हमारी यात्रा सुलभ कर दी। बीसवें दिन मैं अयोध्या पहुँच गयी और धर्मशाले में ठहरी। फिर सरयू में स्नान करके श्रीरामचन्द्र के दर्शन को चली। मन्दिर के आँगन में पहुँची ही थी कि पण्डित श्रीधर की सौम्यमूर्ति दिखाई दी। वह एक कुशासन पर बैठे हुए रामायण का पाठ कर रहे थे और सहस्रों नर-नारी बैठे हुए उनकी अमृतवाणी का आनन्द उठा रहे थे।

पण्डितजी की दृष्टि मुझ पर ज्योंही पड़ी, वह आसन से उठकर मेरे पास आये और बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। दो-ढाई घंटे तक उन्होंने मुझे उस मन्दिर की सैर कराई। मन्दिर की छत पर से सारा नगर शतरंज के बिसात की भाँति मेरे पैरों के नीचे फैला हुआ दिखाई देता था। मन्दगामिनी वायु सरयू की तरंगों को धीरे-धीरे थपकियाँ दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था मानों स्नेहमयी माता ने इस नगर को अपनी गोद में लिया हो। यहाँ से जब अपने डेरे को चली तो पण्डितजी भी मेरे साथ आये। जब वह इतमीनान से बैठे तो मैंने कहा—आपने तो हम लोगों से नाता ही तोड़ लिया।

पण्डितजी ने दुखित होकर कहा—विधाता की यही इच्छा थी। मेरा क्या

वश था। अब तो श्रीरामचन्द्र की शरण आ गया हूँ और शेष जीवन उन्हीं की सेवा में भेंट होगा।

मैं—आप तो श्रीरामचन्द्र की शरण आ गये हैं, उस अबला विद्याधरी को किसकी शरण में छोड़ दिया है?

पण्डित—आपके मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते।

मैंने उत्तर दिया—विद्याधरी को मेरी सिफ़ारिश की आवश्यकता नहीं है। अगर आपने उसके पातिव्रत पर सन्देह किया है तो आपसे ऐसा भीषण पाप हुआ है, जिसका प्रायश्चित्त आप बार-बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकते। आपकी यह भक्ति इस अधर्म का निवारण नहीं कर सकती। आप क्या जानते हैं कि आपके वियोग में उस दुखिया का जीवन कैसे कट रहा है।

किन्तु पण्डितजी ने ऐसा मुँह बना लिया, मानों इस विषय में वह अन्तिम शब्द कह चुके। किंतु मैं इतनी आसानी से उनका पीछा क्यों छोड़ने लगी। मैंने सारी कथा आद्योपान्त सुनायी। और रणधीरसिंह की कपटनीति का रहस्य खोल दिया तब पण्डितजी की आँखें खुलीं। मैं वाणी में कुशल नहीं हूँ, किन्तु उस समय सत्य और न्याय के पक्ष ने मेरे शब्दों को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया था। ऐसा जान पड़ता था, मानों मेरी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हों। अब वह बातें याद आती हैं तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। आखिर विजय मेरे ही हाथ रही। पण्डितजी मेरे साथ चलने पर उद्यत हो गये।

(१५)

यहाँ आकर मैंने शेरसिंह को यहीं छोड़ा और पण्डितजी के साथ अर्जुननगर को चली। हम दोनों अपने विचारों में मग्न थे। पण्डितजी की गर्दन शर्म से झुकी हुई थी क्योंकि अब उनकी हैसियत रूठनेवालों की भाँति नहीं, बल्कि मनानेवालों की तरह थी।

आज प्रणय के सूखे हुए धान में फिर पानी पड़ेगा, प्रेम की सूखी हुई नदी फिर उमड़ेगी?

जब हम विद्याधरी के द्वार पर पहुँचे तो दिन चढ़ आया था। पण्डितजी बाहर ही रुक गये थे। मैंने भीतर जाकर देखा तो विद्याधरी पूजा पर थी। किन्तु यह किसी देवता की पूजा न थी। देवता के स्थान पर पण्डितजी की

खड़ाऊँ रखी हुई थी। पातिव्रत का यह अलौकिक दृश्य देखकर मेरा हृदय पुलकित हो गया। मैंने दौड़कर विद्याधरी के चरणों पर सिर झुका दिया। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था और शोक ने कमर झुका दी थी।

विद्याधरी ने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया और बोली—बहन, मुझे लज्जित न करो। खूब आयीं, बहुत दिनों से जी तुम्हें देखने को तरह रहा था।

मैंने उत्तर दिया—ज़रा अयोध्या चली गयी थी। जब हम दोनों अपने देश में थीं तो जब मैं कहीं जाती तो विद्याधरी के लिए कोई न कोई उपहार अवश्य लाती। उसे वह बात याद आ गयी। सजल-नयन होकर बोली—मेरे लिए भी कुछ लायीं?

मैं—एक बहुत अच्छी वस्तु लायी हूँ।

विद्या—क्या है, देखूँ?

मैं—पहले बूझ जाओ।

विद्या—सुहाग की पिटारी होगी?

मैं—नहीं, उससे अच्छी।

विद्या—ठाकुरजी की मूर्ति?

मैं—नहीं उससे भी अच्छी।

विद्या—मेरे प्राणाधार का कोई समाचार?

मैं—उससे भी अच्छी।

विद्याधरी प्रबल आवेश से व्याकुल होकर उठी कि द्वार पर जाकर पति का स्वागत करे, किन्तु निर्बलता ने मन की अभिलाषा न निकलने दी। तीन बार सँभली और तीन बार गिरी, तब मैंने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया और आँचल से हवा करने लगी। उसका हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था और पतिदर्शन का आनन्द आँखों से आँसू बनकर निकलता था।

जब जरा चित्त सावधान हुआ तो उसने कहा—उन्हें बुला लो, उनका दर्शन मुझे रामबाण हो जायगा।

ऐसा ही हुआ। ज्योंही पण्डितजी अन्दर आये, विद्याधरी उठकर उनके पैरों से लिपट गयी। देवी ने बहुत दिनों के बाद पति के दर्शन पाये हैं। अश्रुधारा से उनके पैर पखार रही है।

मैंने वहाँ ठरहना उचित न समझा। इन दोनों प्राणियों के हृदय में कितनी ही बातें आ रही होंगी, दोनों क्या-क्या कहना और क्या-क्या सुनना चाहते होंगे, यह विचार मैं उठ खड़ी हुई और बोली—बहन, अब मैं जाती हूँ, शाम को फिर आऊँगी। विद्याधरी ने मेरी ओर आँखें उठाईं। पुतलियों के स्थान पर हृदय रखा हुआ था। दोनों आँखें आकाश की ओर उठाकर बोली—ईश्वर तुम्हे इस यश का फल दें।

(१६)

ऐ मुसाफिर, मैंने दो बार पण्डित श्रीधर को मौत के मुँह से बचाया था, किन्तु आज का-सा आनन्द कभी न प्राप्त हुआ था।

जब मैं ज्ञानसरोवर पर पहुँची तो दोपहर हो आया था। विद्याधरी की शुभकामना मुझसे पहले ही पहुँच चुकी थी। मैंने देखा कि कोई पुरुष गुफा से निकलकर ज्ञानसरोवर की ओर चला जाता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस समय यहाँ कौन आया। लेकिन जब समीप आ गया तो मेरे हृदय में ऐसी तरंगें उठने लगीं मानों छाती से बाहर निकल पड़ेगा। यह मेरे प्राणेश्वर, मेरे पतिदेव थे। मैं चरणों पर गिरना ही चाहती थी कि उनका कर-पाश मेरे गले में पड़ गया।

पूरे दस वर्षों के बाद आज मुझे यह शुभ दिन देखना नसीब हुआ। मुझे उस समय ऐसा जान पड़ता था कि ज्ञानसरोवर के कमल मेरे ही लिए खिले हैं, गिरिराज ने मेरे ही लिए फूल की शय्या बिछा दी है, हवा मेरे ही लिए झूमतीहुई आ रही है।

दस वर्षों के बाद मेरा उजड़ा हुआ घर बसा; गये हुए दिन लौटे। मेरे आनन्द का अनुमान कौन कर सकता है।

मेरे पति ने प्रेमकरुण आँखों से देखकर कहा—'प्रियंवदा!'

———

मर्यादा की वेदी

यह वह समय था जब चित्तौड़ में मृदुभाषिणी मीरा प्यारी आत्माओं को ईश्वर-प्रेम के प्याले पिलाती थी। रणछोड़जी के मन्दिर में जब भक्ति से विह्वल होकर वह अपने मधुर स्वरों में अपने पीयूषपूरित पदों को गाती, तो श्रोतागण प्रेमानुराग से उन्मत्त हो जाते। प्रतिदिन यह स्वर्गीय आनन्द उठाने के लिए सारे चित्तौड़ के लोग ऐसे उत्सुक होकर दौड़ते, जैसे दिन भर की प्यासी गायें दूर से किसी सरोवर को देखकर उसकी ओर दौड़ती हैं। इस प्रेम-सुधा-सागर से केवल चित्तौड़वासियों ही की तृप्ति न होती थी, बल्कि समस्त राजपूताना की मरुभूमि प्लावित हो जाती थी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि झालावाड़ के रावसाहब और मन्दार राज्य के कुमार, दोनों ही लाव लश्कर के साथ चित्तौड़ आये। रावसाहब के साथ राजकुमारी प्रभा भी थी, जिसके रूप और गुण की दूर तक चर्चा थी। यहीं रणछोड़जी के मन्दिर में दोनों की आँखें मिलीं। प्रेम ने बाण चलाया।

राजकुमार सारे दिन उदासीन भाव से शहर की गलियों में घूमा करता। राजकुमारी विरह से व्यथित अपने महल के झरोखों से झाँका करती। दोनों व्याकुल होकर सन्ध्या समय मन्दिर में आते और यहाँ चन्द्र को देखकर कुमुदिनी खिल जाती।

प्रेम-प्रवीण मीरा ने कई बार इन दोनों प्रेमियों को सतृष्ण नेत्रों से परस्पर देखते हुए पाकर उनके मन के भावों को ताड़ लिया। एक दिन कीर्त्तन के पश्चात् जब झालावाड़ के रावसाहब चलने लगे तो उसने मन्दार के राजकुमार को बुलाकर उनके सामने खड़ा कर दिया और कहा—रावसाहब, मैं प्रभा के लिए यह वर लाई हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिए।

प्रभा लज्जा से गड़-सी गयी। राजकुमार के गुण शील पर रावसाहब पहले ही से मोहित हो रहे थे, उन्होंने तुरन्त उसे छाती से लगा लिया।

उसी अवसर पर चित्तौड़ के राणा भोजराज भी मन्दिर में आये। उन्होंने प्रभा का मुख-चन्द्र देखा। उनकी छाती पर साँप लोटने लगा।

(२)

झालावाड़ में बड़ी धूम थी। राजकुमारी प्रभा का आज विवाह होगा। मन्दार से बरात आयेगी। मेहमानों के सेवा-सम्मान की तैयारियाँ हो रही थीं। दूकानें सजी हुई थीं। नौबतखाने आमोदालाप से गूँजते थे। सड़कों पर सुगन्धि छिड़की जाती थी। अट्टालिकाएँ पुष्प लताओं से शोभायमान थीं। पर जिसके लिए ये सब तैयारियाँ हो रही थीं, वह अपनी वाटिका के एक वृक्ष के नीचे उदास बैठी हुई रो रही थी।

रनिवास में डोमिनियाँ आनन्दोत्सव के गीत गा रही थीं। कहीं सुन्दरियों के हाव भाव थे, कहीं आभूषणों की चमक दमक, कहीं हास-परिहास की बहार। नाइन बात-बात पर तेज होती थी। मालिन गर्व से फूली न समाती थी। धोबिन आँखें दिखाती थी। कुम्हारिन मटके के सदृश फूली हुई थी। मण्डप के नीचे पुरोहितजी बात-बात पर सुवर्ण-मुद्राओं के लिए ठुनकते थे। रानी सिर के बाल खोले भूखी-प्यासी चारों ओर दौड़ती थी। सबकी बौछारें सहती थी और अपने भाग्य को सराहती थी। दिल खोलकर हीरे-जवाहिर लुटा रही थी। आज प्रभा का विवाह है। बड़े भाग्य से ऐसी बातें सुनने में आती हैं। सब-के-सब अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। किसी को प्रभा की फिक्र नहीं है, जो वृक्ष के नीचे अकेली बैठी रो रही है।

एक रमणी ने आकर नाइन से कहा—बहुत बढ़ बढ़कर बातें न कर, कुछ राजकुमारी का भी ध्यान है? चल, उनके बाल गूँथ।

नाइन ने दाँतोंतले जीभ दबाई। दोनों प्रभा को ढूँढ़ती हुई बाग में पहुँचीं। प्रभा ने उन्हें देखते ही आँसू पोंछ डाले। नाइन मोतियों से माँग भरने लगी और प्रभा सिर नीचा किये आँखों से मोती बरसाने लगी।

रमणी ने सजल नेत्र होकर कहा—बहिन, दिल इतना छोटा मत करो। मुँहमाँगी मुराद पाकर इतनी उदास क्यों होती हो?

प्रभा ने सहेली की ओर देखकर कहा—बहिन, न जाने क्यों दिल बैठा जाता है। सहेली ने छेड़कर कहा—पिया-मिलन की बेकली है!

प्रभा उदासीन भाव से बोली—कोई मेरे मन में बैठा कह रहा है कि अब उनसे मुलाकात न होगी।

सहेली उसके केश सँवारकर बोली—जैसे उषःकाल से पहले कुछ अँधेरा हो जाता है, उसी प्रकार मिलाप के पहले प्रेमियों का मन अधीर हो जाता है।

प्रभा बोली—नहीं बहिन, यह बात नहीं। मुझे शकुन अच्छे नहीं दिखाई देते। आज दिन-भर मेरी आँख फड़कती रही। रात को मैंने बुरे स्वप्न देखे हैं। मुझे शका होती है कि आज अवश्य कोई न कोई विघ्न पड़नेवाला है। तुम राणा भोजराज को जानती हो न ?

सन्ध्या हो गयी। आकाश पर तारों के दीपक जले। झालावाड़ में बूढ़े-जवान सभी लोग बरात की अगुवानी के लिए तैयार हुए। मरदों ने पागें सँवारी, शस्त्र साजे। युवतियाँ श्रृंगार कर गाती बजाती रनिवास की ओर चलीं। हज़ारों स्त्रियाँ छत पर बैठी बारात की राह देख रही थीं।

अचानक शोर मचा कि बरात आ गयी। लोग सँभल बैठे, नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं, सलामियाँ दगने लगीं। जवानों ने घोड़ों को एड़ लगाई। एक क्षण में सवारों की एक सेना राज-भवन के सामने आकर खड़ी हो गयी। लोगों को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह मन्दार की बरात नहीं थी बल्कि राणा भोजराज की सेना थी।

झालावाड़वाले अभी विस्मित खड़े ही थे, कुछ निश्चय न कर सके थे कि क्या करना चाहिए। इतने में चित्तौड़वालों ने राज-भवन को घेर लिया। तब झालावाड़ी भी सचेत हुए। सँभलकर तलवारें खींच लीं और आक्रमणकारियों पर टूट पड़े। राजा महल में घुस गया। रनिवास में भगदड़ मच गयी।

प्रभा सोलहो श्रृंगार किये सहेलियों के साथ बैठी थी। यह हलचल देखकर घबराई। इतने में रावसाहब हाँफते हुए आये और बोले—बेटी प्रभा, राणा भोजराज ने हमारे महल को घेर लिया है। तुम चटपट ऊपर चली जाओ और द्वार को बन्द कर लो। अगर हम क्षत्रिय हैं, तो एक चित्तौड़ी भी यहाँ से जीता न जायगा।

रावसाहब बात भी पूरी न करने पाये थे कि राणा कई वीरों के साथ आ पहुँचे और बोले—चित्तौड़वाले तो सिर काटने के लिए आये ही हैं। पर यदि वे राजपूत हैं तो राजकुमारी लेकर ही जायँगे। वृद्ध रावसाहब की आँखों से

ज्वाला निकलने लगी। वे तलवार खींचकर राणा पर झपटे। उन्होंने वार बचा लिया और प्रभा से कहा—राजकुमारी, हमारे साथ चलोगी?

प्रभा सिर झुकाये राणा के सामने आकर बोली—हाँ, चलूँगी।

रावसाहब को कई आदमियों ने पकड़ लिया था। वे तड़पकर बोले—प्रभा, तू राजपूत की कन्या है?

प्रभा की आँखें सजल हो गयीं। बोली—राणा भी तो राजपूतों के कुलतिलक हैं। रावसाहब ने आकर कहा—निर्लज्जा!

कटार के नीचे पड़ा हुआ बलिदान का पशु जैसी दीन दृष्टि से देखता है, उसी भाँति प्रभा ने रावसाहब की ओर देखकर कहा—जिस झालावाड़ की गोद में पली हूँ, क्या उसे रक्त से रँगवा दूँ?

रावसाहब ने क्रोध से काँपकर कहा—क्षत्रियों को रक्त इतना प्यारा नहीं होता। मर्यादा पर प्राण देना उनका धर्म है!

तब प्रभा की आँखें लाल हो गयीं। चेहरा तमतमाने लगा।

बोली—राजपूत कन्या अपने सतीत्व की रक्षा आप कर सकती है। इसके लिए रुधिर-प्रवाह की आवश्यकता नहीं।

पल भर में राणा ने प्रभा को गोद में उठा लिया। बिजली की भाँति झपट कर बाहर निकले। उन्होंने उसे घोड़े पर बिठा लिया, आप सवार हो गये और घोड़े को उड़ा दिया। अन्य चित्तौड़ियों ने भी घोड़ों की बागें मोड़ दीं, उनके सौ जवान भूमि पर पड़े तड़प रहे थे, पर किसी ने तलवार न उठायी थी।

रात को दस बजे मन्दारवाले भी पहुँचे। मगर यह शोक समाचार पाते ही लौट गये। मन्दार कुमार निराशा से अचेत हो गया। जैसे रात को नदी का किनारा सुनसान हो जाता है, उसी तरह सारी रात झालावाड़ में सन्नाटा छाया रहा।

(३)

चित्तौड़ के रंग महल में प्रभा उदास बैठी सामने के सुन्दर पौधों की पत्तियाँ गिन रही थी। सन्ध्या का समय था। रंग बिरंग के पक्षी वृक्षों पर बैठे कलरव कर रहे थे। इतने में राणा ने कमरे में प्रवेश किया। प्रभा उठकर खड़ी हो गयी।

राणा बोले—प्रभा, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मैं बलपूर्वक तुम्हें माता पिता की गोद से छीन लाया, पर यदि मैं तुमसे कहूँ कि यह सब तुम्हारे प्रेम से विवश होकर मैंने किया, तो तुम मन में हँसोगी और कहोगी कि यह निराले, अनूठे ढंग की प्रीति है, पर वास्तव में यही बात है। जबसे मैंने रणछोड़जी के मंदिर में तुमको देखा, तबसे एक क्षण भी ऐसा नहीं बीता कि मैं तुम्हारी सुधि में विकल न रहा होऊँ। तुम्हें अपनाने का अन्य कोई उपाय होता, तो मैं कदापि इस पाशविक ढङ्ग से काम न लेता। मैंने रावसाहब की सेवा में बारबार संदेशे भेजे, पर उन्होंने हमेशा मेरी उपेक्षा की। अन्त में जब तुम्हारे विवाह की अवधि आ गयी और मैंने देखा कि एक ही दिन में तुम दूसरे की प्रेम-पात्री हो जाओगी और तुम्हारा ध्यान करना भी मेरी आत्मा को दूषित करेगा, तो लाचार होकर मुझे यह अनीति करनी पड़ी। मैं मानता हूँ कि यह सर्वथा मेरी स्वार्थान्धता है। मैंने अपने प्रेम के सामने तुम्हारे मनोगत भावों को कुछ न समझा, पर प्रेम स्वयं एक बढ़ी हुई स्वार्थपरता है, जब मनुष्य को अपने प्रियतम के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं अपने विनीत भाव और प्रेम से तुमको अपना लूँगा। प्रभा, प्यास से मरता हुआ मनुष्य यदि किसी गढे में मुँह डाल दे, तो वह दण्ड का भागी नहीं है। मैं प्रेम का प्यासा हूँ। मीरा मेरी सहधर्मिणी है। उसका हृदय प्रेम का अगाध सागर है। उसका एक चुल्लू भी मुझे उन्मत्त करने के लिए काफी था, पर जिस हृदय में ईश्वर का वास हो वहाँ मेरे लिए स्थान कहाँ? तुम शायद कहोगी कि यदि तुम्हारे सिर पर प्रेम का भूत सवार था तो क्या सारे राजपूताने में स्त्रियाँ न थीं। निस्सदेह राजपूताने में सुन्दरता का अभाव नहीं है। और न चित्तौड़ाधिपति की ओर से विवाह की बातचीत किसी के अनादर का कारण हो सकती है, पर इसका जवाब तुम आप ही हो। इसका दोष तुम्हारे ही ऊपर है। राजस्थान में एक ही चित्तौड़ है, एक ही राणा और एक ही प्रभा। सम्भव है, मेरे भाग्य में प्रेमानन्द भोगना न लिखा हो। यह मैं अपने कर्म लेख को मिटाने का थोड़ा सा प्रयत्न कर रहा हूँ; परन्तु भाग्य के आधीन बैठे रहना पुरुषों का काम नहीं है। मुझे इसमें सफलता होगी या नहीं, इसका फैसला तुम्हारे हाथ है।

प्रभा की आँखें जमीन की तरफ थीं और मन फुदकनेवाली चिड़िया की

भाँति इधर-उधर उड़ता फिरता था। वह झालावाड़ को मारकाट से बचाने के लिए राणा के साथ आयी थी, मगर राणा के प्रति उसके हृदय में क्रोध की तरंगें उठ रही थीं। उसने सोचा था कि वे यहाँ आयेंगे तो उन्हें राजपूत कुल कलंक, अन्यायी, दुराचारी, दुरात्मा, कायर कहकर उनका गर्व चूर चूर कर दूँगी। उसको विश्वास था कि यह अपमान उनसे न सहा जायगा और वे मुझे बलात् अपने काबू में लाना चाहेंगे। इस अन्तिम समय के लिए उसने अपने हृदय को ख़ूब मजबूत और अपनी कटार को ख़ूब तेज़ कर रखा था। उसने निश्चय कर लिया था कि इसका एक वार उनपर होगा, दूसरा अपने कलेजे पर और इस प्रकार यह पाप-काण्ड समाप्त हो जायगा। लेकिन राणा की नम्रता, उनकी करुणात्मक विवेचना और उनके विनीत भाव ने प्रभा को शान्त कर दिया। आग पानी से बुझ जाती है। राणा कुछ देर वहाँ बैठे रहे, फिर उठकर चले गये।

(४)

प्रभा को चित्तौड़ में रहते दो महीने गुजर चुके हैं। राणा उसके पास फिर न आये। इस बीच में उनके विचारों में कुछ अन्तर हो गया है। झालावाड़ पर आक्रमण होने के पहले मीराबाई को इसकी बिलकुल ख़बर न थी। राणा ने इस प्रस्ताव को गुप्त रखा था। किन्तु अब मीराबाई प्रायः उन्हें इस दुराग्रह पर लज्जित किया करती है और धीरे-धीरे राणा को भी विश्वास होने लगा है कि प्रभा इस तरह काबू में नहीं आ सकती। उन्होंने उसके सुख-विलास की सामग्री एकत्र करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। लेकिन प्रभा उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखती। राणा प्रभा की लौंडियों से नित्य का समाचार पूछा करते हैं और उन्हें रोज़ वही निराशापूर्ण वृत्तान्त सुनायी देता है। मुरझायी हुई कली किसी भाँति नहीं खिलती। अतएव उनको कभी-कभी अपने इस दुस्साहस पर पश्चात्ताप होता है। वे पछताते हैं कि मैंने व्यर्थ ही यह अन्याय किया। लेकिन फिर प्रभा का अनुपम सौन्दर्य नेत्रों के सामने आ जाता है और वह अपने मन को इस विचार से समझा लेते हैं कि एक सगर्वा सुन्दरी का प्रेम इतनी जल्दी परिवर्तित नहीं हो सकता। निस्सन्देह मेरा मृदु व्यवहार कभी-न कभी अपना प्रभाव दिखलायेगा।

प्रभा सारे दिन अकेली बैठी-बैठी उकताती और झुँझलाती थी। उसके

विनोद के निमित्त कई गानेवाली स्त्रियाँ नियुक्त थीं, किन्तु राग रंग से उसे अरुचि हो गयी थी। वह प्रतिक्षण चिन्ताओं में डूबी रहती थी।

राणा के नम्र भाषण का प्रभाव अब मिट चुका था और उनकी अमानुषिक वृत्ति अब फिर अपने यथार्थ रूप में दिखायी देने लगी थी। वाक्यचतुरता शान्तिकारक नहीं होती। वह केवल निरुत्तर कर देती है! प्रभा को अब अपने अवाक् हो जाने पर आश्चर्य होता है। उसे राणा की बातों के उत्तर भी सूझने लगे हैं। वह कभी कभी उनसे लड़कर अपनी क़िस्मत का फ़ैसला करने के लिए विकल हो जाती है।

मगर अब वाद विवाद किस काम का? वह सोचती है कि मैं रावसाहब की कन्या हूँ पर संसार की दृष्टि में राणा की रानी हो चुकी। अब यदि मैं इस क़ैद से छूट भी जाऊँ तो मेरे लिए कहाँ ठिकाना है? मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी? इससे केवल मेरे वंश का ही नहीं, वरन् समस्त राजपूत-जाति का नाम डूब जायगा। मन्दार-कुमार मेरे सच्चे प्रेमी हैं। मगर क्या वे मुझे अङ्गीकार करेंगे? और यदि वे निन्दा की परवाह न करके मुझे ग्रहण भी कर लें तो उनका मस्तक सदा के लिए नीचा हो जायगा और कभी-न-कभी उनका मन मेरी तरफ़ से फिर जायगा। वे मुझे अपने कुल का कलंक समझने लगेंगे। या यहाँ से किसी तरह भाग जाऊँ। लेकिन भागकर जाऊँ कहाँ? बाप के घर? वहाँ अब मेरी पैठ नहीं। मन्दार-कुमार के पास? इसमें उनका अपमान है और मेरा भी। तो क्या भिखारिणी बन जाऊँ? इसमें भी जग हँसाई होगी और न जाने प्रबल भावी किस मार्ग पर ले जाय। एक अबला स्त्री के लिए सुन्दरता प्राणघातक यंत्र से कम नहीं। ईश्वर, वह दिन न आये कि मैं क्षत्रिय-जाति का कलंक बनूँ। क्षत्रिय जाति ने मर्यादा के लिए पानी की तरह रक्त बहाया है। उनकी हजारों देवियाँ पर-पुरुष का मुँह देखने के भय से सूखी लकड़ी के समान जल मरी हैं। ईश्वर, वह घड़ी न आये कि मेरे कारण किसी राजपूत का सिर लज्जा से नीचा हो। नहीं, मैं इसी क़ैद में मर जाऊँगी। राणा के अन्याय सहूँगी, जलूँगी, मरूँगी, पर इसी घर में। विवाह जिससे होना था, हो चुका। हृदय में उसकी उपासना करूँगी, पर कण्ठ के बाहर उसका नाम न निकालूँगी।

एक दिन झुँझलाकर उसने राणा को बुला भेजा। वे आये। उनका चेहरा

उतरा था। वे कुछ चिन्तित-से थे। प्रभा कुछ कहना चाहती थी; पर उनकी सूरत देखकर उसे उन पर दया आ गयी। उन्होंने उसे बात करने का अवसर न देकर स्वयं कहना शुरू किया।

"प्रभा, तुमने आज मुझे बुलाया है। यह मेरा सौभाग्य है। तुमने मेरी सुधि तो ली; मगर यह मत समझो कि मैं मृदु-वाणी सुनने की आशा लेकर आया हूँ। नहीं, मैं जानता हूँ, जिसके लिए तुमने मुझे बुलाया है। यह लो, तुम्हारा अपराधी तुम्हारे सामने खड़ा है। उसे जो दण्ड चाहो, दो। मुझे अब तक आने का साहस न हुआ। इसका कारण यही दण्ड-भय था। तुम क्षत्राणी हो और क्षत्राणियाँ क्षमा करना नहीं जानतीं। झालावाड़ में जब तुम मेरे साथ आने पर स्वयं उद्यत हो गयीं, तो मैंने उसी क्षण तुम्हारे जौहर परख लिये। मुझे मालूम हो गया कि तुम्हारा हृदय बल और विश्वास से भरा हुआ है। उसे काबू में लाना सहज नहीं। तुम नहीं जानतीं कि यह एक मास मैंने किस तरह काटा है। तड़प-तड़पकर मर रहा हूँ; पर जिस तरह शिकारी बफरी हुई सिंहिनी के सम्मुख जाने से डरता है, वही दशा मेरी थी। मैं कई बार आया। यहाँ तुमको उदास तिउरियाँ चढ़ाये बैठे देखा। मुझे अन्दर पैर रखने का साहस न हुआ; मगर आज मैं बिना बुलाया मेहमान नहीं हूँ। तुमने मुझे बुलाया है और तुम्हें अपने मेहमान का स्वागत करना चाहिए। हृदय से न सही—जहाँ अग्नि प्रज्वलित हो, वहाँ ठण्डक कहाँ!—बातों ही से सही, अपने भावों को दबाकर ही सही, मेहमान का स्वागत करो। संसार में शत्रु का आदर मित्रों से भी अधिक किया जाता है।

"प्रभा, एक क्षण के लिए क्रोध को शांत करो और मेरे अपराधों पर विचार करो। तुम मेरे ऊपर यही दोषारोपण कर सकती हो कि मैं तुम्हें माता-पिता की गोद से छीन लाया। तुम जानती हो, कृष्ण भगवान् रुक्मिणी को हर लाये थे। राजपूतों में यह कोई नयी बात नहीं है। तुम कहोगी, इससे झालावाड़वालों का अपमान हुआ; पर ऐसा कहना कदापि ठीक नहीं। झालावाड़वालों ने वही किया, जो मर्दों का धर्म था। उनका यह पुरुषार्थ देखकर हम चकित हो गये। यदि वे कृतकार्य नहीं हुए तो यह उनका दोष नहीं है। वीरों की सदैव जीत नहीं होती। हम इसलिए सफल हुए कि हमारी संख्या अधिक थी

और इस काम के लिए तैयार होकर गये थे। वे निश्शक थे, इस कारण उनकी हार हुई। यदि हम वहाँ से शीघ्र ही प्राण बचाकर भाग न आते तो हमारी गति वही होती जो रावसाहब ने कही थी। एक भी चित्तौड़ी न बचता। लेकिन ईश्वर के लिए यह मत सोचो कि मैं अपने अपराध के दूषण को मिटाना चाहता हूँ। नहीं, मुझसे अपराध हुआ और मैं हृदय से उस पर लज्जित हूँ। पर अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। अब इस बिगड़े हुए खेल को मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। यदि मुझे तुम्हारे हृदय मे कोई स्थान मिले तो मैं उसे स्वर्ग समझूँगा। डूबते हुए को तिनके का सहारा भी बहुत है। क्या यह संभव है ?"

प्रभा बोली—नहीं।

राणा—झालावाड़ जाना चाहती हो ?

प्रभा—नहीं।

राणा—मन्दार के राजकुमार के पास भेज दूँ ?

प्रभा—कदापि नहीं।

राणा—लेकिन मुझसे यह तुम्हारा कुढ़ना देखा नहीं जाता।

प्रभा—आप इस कष्ट से शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे।

राणा ने भयभीत दृष्टि से देखकर कहा—'जैसी तुम्हारी इच्छा" और वे वहाँ से उठकर चले गये।

(५)

दस बजे रात का समय था। रणछोड़जी के मन्दिर में कीर्तन समाप्त हो चुका था और वैष्णव साधु बैठे हुए प्रसाद पा रहे थे। मीरा स्वयं अपने हाथों से थाल ला-लाकर उनके आगे रखती थी। साधुओं और अभ्यागतों के आदर-सत्कार मे उस देवी को आत्मिक आनन्द होता था। साधुगण जिस प्रेम से भोजन करते थे, उससे यह शका होती थी कि स्वादपूर्ण वस्तुओं मे कहीं भक्ति भजन से भी अधिक सुख तो नहीं है। यह सिद्ध हो चुका है कि ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का सदुपयोग ही ईश्वरोपासना की मुख्य रीति है। इसलिए ये महात्मा लोग उपासना के ऐसे अच्छे अवसरों को क्यों खोते ? वे कभी पेट पर हाथ फेरते और कभी आसन बदलते थे। मुँह से 'नहीं' कहना तो वे घोर

पाप के समान समझते थे। यह भी मानी हुई बात है कि जैसी वस्तुओं का हम सेवन करते हैं, वैसी ही आत्मा भी बनती है। इसलिए ये महात्मागण घी और खोये से उदर को खूब भर रहे थे।

पर इन्हीं में एक महात्मा ऐसे भी थे जो आँखें बन्द किये ध्यान में मग्न थे। थाल की ओर ताकते भी न थे। इनका नाम प्रेमानन्द था। ये आज ही आये थे। इनके चेहरे पर कान्ति झलकती थी। अन्य साधु खाकर उठ गये, परन्तु उन्होंने थाल छुआ भी नहीं।

मीरा ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज, आपने प्रसाद को छुआ भी नहीं। दासी से कोई अपराध तो नहीं हुआ?

साधु—नहीं, इच्छा नहीं थी।

मीरा—पर मेरी विनय आपको माननी पड़ेगी।

साधु—मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा, तो तुमको भी मेरी एक बात माननी होगी।

मीरा—कहिए, क्या आज्ञा है?

साधु—माननी पड़ेगी।

मीरा—मानूँगी।

साधु—वचन देती हो?

मीरा—वचन देती हूँ, आप प्रसाद पायें।

मीराबाई ने समझा था कि साधु कोई मन्दिर बनवाने या कोई यज्ञ पूर्ण करा देने की याचना करेगा। ऐसी बातें नित्यप्रति हुआ ही करती थीं और मीरा का सर्वस्व साधु सेवा के लिए अर्पित था; परन्तु उसके लिए साधु ने ऐसा कोई याचना न की। वह मीरा के कानों के पास मुँह ले जाकर बोला—आज दो घण्टे के बाद राज भवन का चोरदरवाजा खोल देना।

मीरा विस्मित होकर बोली—आप कौन हैं?

साधु—मन्दार का राजकुमार।

मीरा ने राजकुमार को सिर से पाँव तक देखा। नेत्रों में आदर के स्थान घृणा थी। कहा—राजपूत यों छल नहीं करते।

राजकुमार—वह नियम उस अवस्था के लिए है जब दोनों पक्ष समान शक्ति रखते हों।

मीरा—ऐसा नहीं हो सकता।

राजकुमार—आपने वचन दिया है, उसका पालन करना होगा।

मीरा—महराज की आज्ञा के सामने मेरे वचन का कोई महत्व नहीं।

राजकुमार—मैं यह कुछ नहीं जानता। यदि आपको अपने वचन की कुछ भी मर्यादा रखनी है तो उसे पूरा कीजिए।

मीरा—(सोचकर) महल में जाकर क्या करोगे ?

राजकुमार नयी रानी से दो दो बातें।

मीरा चिन्ता में विलीन हो गयी। एक तरफ राणा की कड़ी आज्ञा थी और दूसरी तरफ़ अपना वचन और उसका पालन करने का परिणाम। कितनी ही पौराणिक घटनाएँ उसके सामने आ रही थीं। दशरथ ने वचन पालने के लिए अपने प्रिय पुत्र को वनवास दे दिया। मैं वचन दे चुकी हूँ। उसे पूरा करना मेरा परम धर्म है। लेकिन पति की आज्ञा को कैसे तोड़ूँ ? यदि उनकी आज्ञा के विरुद्ध करती हूँ तो लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। क्यों न उनसे स्पष्ट कह दूँ। क्या वह यह मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे ? मैंने आज तक उनसे कुछ नहीं माँगा। आज उनसे यह दान माँगूँगी। क्या वे मेरे वचन की मर्यादा की रक्षा न करेंगे ? उनका हृदय कितना विशाल है ! निस्सदेह वे मुझ पर वचन तोड़ने का दोष न लगाने देंगे।

इस तरह मन में निश्चय कर के वह बोली—कब खोल दूँ ?

राजकुमार ने उछलकर कहा—आधी रात को।

मीरा—मैं स्वयं तुम्हारे साथ चलूँगी।

राजकुमार—क्यों ?

मीरा—तुमने मेरे साथ छल किया है। मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं है।

राजकुमार ने लज्जित होकर कहा—अच्छा, तो आप द्वार पर खड़ी रहिएगा।

मीरा—यदि फिर कोई दगा किया तो जान से हाथ धोना पड़ेगा।

राजकुमार—मैं सब कुछ सहने के लिए तैयार हूँ।

(६)

मीरा यहाँ से राणा की सेवा में पहुँची। वे उसका बहुत आदर करते थे। वे खड़े हो गये। इस समय मीरा का आना एक असाधारण बात थी। उन्होंने पूछा—बाईजी, क्या आज्ञा है?

मीरा—आपसे भिक्षा माँगने आयी हूँ। निराश न कीजियेगा। मैंने आज तक आपसे कोई विनती नहीं की; पर आज एक ब्रह्म-फाँस में फँस गयी हूँ। इसमें से मुझे आप ही निकाल सकते हैं? मन्दार के राजकुमार को तो आप जानते हैं?

राणा—हाँ, अच्छी तरह।

मीरा—आज उसने मुझे बड़ा धोखा दिया। एक वैष्णव महात्मा का रूप धारण कर रणछोड़जी के मन्दिर में आया और उसने छल करके मुझे वचन देने पर बाध्य किया। मेरा साहस नहीं होता कि उसकी कपट-विनय आपसे कहूँ।

राणा—प्रभा से मिला देने को तो नहीं कहा?

मीरा—जी हाँ उसका अभिनय वही है। लेकिन सवाल यह है कि मैं आधी रात को राजमहल का गुप्त द्वार खोल दूँ। मैंने उसे बहुत समझाया; बहुत धमकाया; पर वह किसी भाँति न माना। निदान विवश होकर जब मैंने कह दिया तब उसने प्रसाद पाया, अब मेरे वचन की लाज आपके हाथ है। आप चाहे उसे पूरा करके मेरा मान रखें, चाहे उसे तोड़कर मेरा मान तोड़ दें। आप मेरे ऊपर जो कृपादृष्टि रखते हैं, उसी के भरोसे मैंने वचन दिया। अब मुझे इस फन्दे से उबारना आप ही का काम है।

राणा कुछ देर सोचकर बोले—तुमने वचन दिया है, उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है। तुम देवी हो, तुम्हारे वचन नहीं टल सकते। द्वार खोल दो। लेकिन यह उचित नहीं है कि वह अकेले प्रभा से मुलाक़ात करे। तुम स्वयं उसके साथ जाना। मेरी ख़ातिर से इतना कष्ट उठाना। मुझे भय है कि वह उसकी जान लेने का इरादा करके न आया हो। ईर्ष्या में मनुष्य अन्धा हो जाता है। बाईजी, मैं अपने हृदय की बात तुमसे कहता हूँ। मुझे प्रभा को हर लाने का अत्यन्त शोक है। मैंने समझा था कि यहाँ रहते-रहते वह हिल-मिल जायगी; किन्तु यह अनुमान गलत निकला। मुझे भय है कि यदि उसे कुछ

दिन यहाँ और रहना पड़ा तो वह जीती न बचेगी। मुझ पर एक अबला क
हत्या का अपराध लग जायगा। मैंने उससे झालावाड़ जाने के लिए कहा, प
वह राजी न हुई। आज तुम उन दोनों की बातें सुनो। अगर वह मन्दार-कुमा
के साथ जाने पर राजी हो, तो प्रसन्नता-पूर्वक अनुमति दे दूँगा। मुझसे कुढ़न
नहीं देखा जाता। ईश्वर इस सुन्दरी का हृदय मेरी ओर फेर देता तो मेर
जीवन सफल हो जाता। किन्तु जब यह सुख भाग्य में लिखा ही नहीं है, त
क्या वश है। मैंने तु से ये बातें कहीं, इसके लिए मुझे क्षमा करना। तुम्हा
पवित्र हृदय में ऐसे विषयों के लिए स्थान कहाँ ?

मीरा ने आकाश की ओर संकोच से देखकर कहा—तो मुझे आज्ञा है
मैं चोर-द्वार खोल दूँ ?

राणा—तुम इस घर की स्वामी हो, मुझसे पूछने की जरूरत नहीं।

मीरा राणा को प्रणाम कर चली गयी।

(७)

आधी रात बीत चुकी थी। प्रभा चुपचाप बैठी दीपक की ओर देख रही थी और सोचती थी, इसके घुलने से प्रकाश होता है, यह बत्ती अगर जलती है तो दूसरों को लाभ पहुँचाती है। मेरे जलने से किसी को क्या लाभ ? मैं क्यों घुलूँ ? मेरे जीने की क्या जरूरत है ?

उसने फिर खिड़की से सिर निकालकर आकाश की तरफ देखा। काले पट पर उज्ज्वल तारे जगमगा रहे थे। प्रभा ने सोचा, मेरे अन्धकारमय भाग्य में ये दीप्तिमान तारे कहाँ हैं ? मेरे लिए जीवन के सुख कहाँ हैं ? क्या रोने के लिए जीऊँ ? ऐसे जीने से क्या लाभ ? और जीने में उपहास भी तो है। मेरे मन का हाल कौन जानता है ? संसार मेरी निन्दा करता होगा। झालावाड़ की स्त्रियाँ मेरी मृत्यु के शुभ समाचार सुनने की प्रतीक्षा कर रही होंगी। मेरी प्रिय माता लज्जा से आँखें न उठा सकती होंगी। लेकिन जिस समय मेरे मरने की खबर मिलेगी, गर्व से उनका मस्तक ऊँचा हो जायगा। यह बेहयाई का जीना है। ऐसे जीने से मरना कहीं उत्तम है।

प्रभा ने तकिये के नीचे से एक चमकती हुई कटार निकाली। उसके हाथ काँप रहे थे। उसने कटार की तरफ आँखें जमाईं। हृदय को उसके अभिवादन

के लिए मज़बूत किया। हाथ उठाया, किन्तु न उठा; आत्मा दृढ़ न थी। आँखें झपक गयीं। सिर में चक्कर आ गया। कटार हाथ से छूटकर ज़मीन पर गिर पड़ी।

प्रभा क्रुद्ध होकर सोचने लगी—क्या मैं वास्तव में निर्लज्ज हूँ! मैं राजपूतानी होकर मरने से डरती हूँ! मन-मर्यादा खोकर वेश्या लोग ही जिया करते हैं। वह कौन-सी आकांक्षा है जिसने मेरी आत्मा को इतना निर्बल बना रखा है? क्या राणा की मीठी मीठी बातें? राणा मेरे शत्रु हैं। उन्होंने मुझे पशु समझ रखा है, जिसे फँसाने के पश्चात् हम पिंजरे में बन्द करके हिलाते हैं। उन्होंने मेरे मन को अपनी वाक्य-मधुरता का क्रीड़ा स्थल समझ लिया है। वे इस तरह घुमा-घुमाकर बातें करते हैं और मेरी तरफ़ से युक्तियाँ निकालकर उनका ऐसा उत्तर देते हैं कि ज़बान ही बन्द हो जाती है। हाय! निर्दयी ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया और मुझे यों खेलाता है! क्या इसीलिए जीऊँ कि उसके कपटभावों का खिलौना बनूँ?

फिर वह कौन-सी अभिलाषा है? क्या राजकुमार का प्रेम? उनकी तो अब कल्पना ही मेरे लिए घोर पाप है। मैं अब उस देवता के योग्य नहीं हूँ, प्रियतम! बहुत दिन हुए मैंने तुमको हृदय से निकाल दिया। तुम भी मुझे दिल से निकाल डालो। मृत्यु के सिवाय अब कहीं मेरा ठिकाना नहीं है। शंकर! मेरी निर्बल आत्मा को शक्ति प्रदान करो। मुझे कर्तव्य पालन का बल दो।

प्रभा ने फिर कटार निकाली! इच्छा दृढ़ थी। हाथ उठा और निकट था कि कटार उसके शोकातुर हृदय में चुभ जाय कि, इतने में किसी के पाँव की आहट सुनायी दी। उसने चौंककर सहमी हुई दृष्टि से देखा। मन्दार-कुमार धीरे-धीरे पैर दबाता हुआ कमरे में दाखिल हुआ।

(८)

प्रभा उसे देखते ही चौंक पड़ी। उसने कटार को छिपा लिया। राजकुमार को देखकर उसे आनन्द की जगह रोमांचकारी भय उत्पन्न हुआ। यदि किसी को ज़रा भी सन्देह हो गया तो इनका प्राण बचना कठिन है। इनको तुरन्त यहाँ से निकल जाना चाहिए। यदि इन्हें बातें करने का अवसर दूँ तो विलम्ब होगा और फिर ये अवश्य ही फँस जायँगे। राणा इन्हें कदापि न छोड़ेंगे। वे

विचार वायु और बिजली की व्यग्रता के साथ उसके मस्तिष्क में दौड़े। वह तीव्र स्वर से बोली—भीतर मत आओ।

राजकुमार ने पूछा—मुझे पहचाना नहीं?

प्रभा—ख़ूब पहिचान लिया, किन्तु यह बातें करने का समय नहीं है। राणा तुम्हारी घात में हैं। अभी यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार ने एक पग और आगे बढ़ाया और निर्भीकता से कहा—प्रभा, तुम मुझसे निष्ठुरता करती हो।

प्रभा ने धमकाकर कहा—तुम यहाँ ठहरोगे तो मैं शोर मचा दूँगी।

राजकुमार ने उद्दण्डता से उत्तर दिया—इसका मुझे भय नहीं। मैं अपनी जान हथेली पर रखकर आया हूँ। आज दोनों में से एक का अन्त हो जायगा। या तो राणा रहेंगे या मैं रहूँगा, तुम मेरे साथ चलोगी?

प्रभा ने दृढ़ता से कहा—नहीं।

राजकुमार व्यंग्यभाव से बोला—क्यों, क्या चित्तौड़ का जलवायु पसन्द आ गया?

प्रभा ने राजकुमार की ओर तिरस्कृत नेत्रों से देखकर कहा—संसार में अपनी सब आशाएँ पूरी नहीं होतीं। जिस तरह यहाँ मैं अपना जीवन काट रही हूँ, वह मैं ही जानती हूँ, किन्तु लोक निन्दा भी तो कोई चीज है! संसार की दृष्टि में चित्तौड़ की रानी हो चुकी। अब राणा जिस भाँति रखें उसी भाँति रहूँगी। मैं अन्त समय तक उनसे घृणा करूँगी, जलूँगी, कुढ़ूँगी। जब जलन न सही जायगी, तो विष खा लूँगी या छाती में कटार मारकर मर जाऊँगी; लेकिन इसी भवन में। इस घर के बाहर कदापि पैर न रखूँगी।

राजकुमार के मन में सन्देह हुआ कि प्रभा पर राणा का वशीकरण मन्त्र चल गया। यह मुझसे छल कर रही है। प्रेम की जगह ईर्ष्या पैदा हुई। वह उसी भाव से बोला—और यदि मैं यहाँ से उठा ले जाऊँ? प्रभा के तीवर बदल गये। बोली—मैं तो वही करूँगी जो ऐसी अवस्था में क्षत्राणियाँ किया करती हैं। अपने गले में छुरी मार लूँगी, या तुम्हारे गले में।

राजकुमार एक पग और आगे बढ़कर यह कटु-वाक्य बोला—राणा के साथ तो तुम ख़ुशी से चली आयीं। उस समय यह छुरी कहाँ गयी थी?

प्रभा को यह शब्द शर-सा लगा। वह तिलमिलाकर बोली—उस समय इसी छुरी के एक वार से ख़ून की नदी बहने लगती। मैं नहीं चाहती थी कि मेरे कारण मेरे भाई-बन्धुओं की जान जाय। इसके सिवाय मैं कुँवारी थी। मुझे अपनी मर्यादा के भंग होने का कोई भय न था। मैंने पातिव्रत नहीं लिया। कम-से-कम संसार मुझे ऐसा समझता था। मैं अपनी दृष्टि में अब भी वही हूँ; किन्तु संसार की दृष्टि में कुछ और हो गई हूँ। लोक-लाज ने मुझे राणा की आज्ञाकारिणी बना दिया है। पतिव्रता की बेड़ी ज़बरदस्ती मेरे पैरों में डाल दी गयी है। अब इसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। इसके विपरीत और कुछ करना क्षत्राणियों के नाम को कलंकित करना है। तुम मेरे घाव पर व्यर्थ नमक क्यों छिड़कते हो? यह कौन सी भलमनसी है? मेरे भाग्य में जो कुछ बदा है, वह भोग रही हूँ। मुझे भोगने दो और तुमसे विनती करती हूँ कि शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार एक पग और बढ़कर दुष्ट-भाव से बोला—प्रभा, यहाँ आकर तुम त्रियाचरित्र में निपुण हो गयीं। तुम मेरे साथ विश्वासघात करके अब धर्म की आड़ ले रही हो। तुमने मेरे प्रणय को पैरों तले कुचल दिया और अब मर्यादा का बहाना ढूँढ रही हो। मैं इन नेत्रों से राणा को तुम्हारे सौंदर्य-पुष्प का भ्रमर बनते नहीं देख सकता। मेरी कामनायें मिट्टी में मिलती हैं तो तुम्हें लेकर जायँगी। मेरा जीवन नष्ट होता है तो उसके पहले तुम्हारे जीवन का भी अन्त होगा। तुम्हारी बेवफ़ाई का यही दण्ड है। बोलो, क्या निश्चय करती हो? इस समय मेरे साथ चलती हो या नहीं? किले के बाहर मेरे आदमी खड़े हैं।

प्रभा ने निर्भयता से कहा—नहीं।

राजकुमार—सोच लो, नहीं तो पछताओगी।

प्रभा—ख़ूब सोच लिया है।

राजकुमार ने तलवार खींच ली और वह प्रभा की तरफ लपके। प्रभा भय से आँखें बन्द किये एक क़दम पीछे हट गयी। मालूम होता था, उसे मूर्च्छा आ जायगी।

अकस्मात् राणा तलवार लिए वेग के साथ कमरे में दाखिल हुए। राजकुमार सँभलकर खड़ा हो गया।

राणा ने सिंह के समान गरजकर कहा—दूर हट। क्षत्रिय स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाते।

राजकुमार ने तनकर उत्तर दिया—लज्जाहीन स्त्रियों की यही सजा है।

राणा ने कहा—तुम्हारा वैरी तो मैं था। मेरे सामने आते क्यों लजाते थे? जरा मैं भी तुम्हारी तलवार की काट देखता।

राजकुमार ने ऐंठकर राणा पर तलवार चलायी। शस्त्र विद्या में राणा अति कुशल थे। वार खाली देखकर राजकुमार पर झपटे। इतने में प्रभा, जो मूर्च्छित अवस्था में दीवार से चिमटी खड़ी थी, बिजली की तरह कौंधकर राजकुमार के सामने खड़ी हो गई। राणा वार कर चुके थे। तलवार का पूरा हाथ उसके कन्धे पर पड़ा। रक्त की फुहार छूटने लगी। राणा ने एक ठण्डी साँस ली और उन्होंने तलवार हाथ से फेंककर गिरती हुई प्रभा को सँभाल लिया।

क्षणमात्र में प्रभा का मुखमण्डल वर्णहीन हो गया। आँखें बुझ गयीं। दीपक ठण्डा हो गया। मन्दार कुमार ने भी तलवार फेंक दी और वह आँखों में आँसू भर प्रभा के सामने घुटने टेककर बैठ गया। दोनों प्रेमियों की आँखें सजल थीं। पतिंगे बुझे हुए दीपक पर जान दे रहे थे।

प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुआ, राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था। प्रभा किसी प्रकार उसके साथ चलने पर उद्यत न होती थी। लज्जा का भय, धर्म की बेड़ी, कर्तव्य की दीवार, रास्ता रोके खड़ी थी। परन्तु उसे तलवार के सामने देखकर उसने उस पर अपना प्राण अर्पण कर दिया। प्रीति की प्रथा निबाह दी, लेकिन अपने वचन के साथ उसी घर में।

हाँ, प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण पहले राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था। उसके ख़ून का प्यासा था। ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी। वह रुधिर की धारा से शान्त हो गयी। कुछ देर तक वह अचेत बैठा रोता रहा। फिर उठा और उसने तलवार उठाकर जोर से अपनी छाती में चुभा ली। फिर रक्त की फुहार निकली। दोनों धारायें मिल गयीं और उनमें कोई भेद न रहा।

प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी। किन्तु वह प्रेम के बन्धन को तोड़ न सकी। दोनों उस घर ही से नहीं, संसार से एक साथ सिधारे।

———

मृत्यु के पीछे

बाबू ईश्वरचन्द्र को समाचारपत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी जब वे विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नये विषयों की चिन्ता में लीन रहते। पत्रों में अपना नाम देखकर उन्हें उससे कहीं ज़्यादा ख़ुशी होती थी जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्चस्थान प्राप्त करने से हो सकती थी। वह अपने कालेज के "गरम-दल" के नेता थे। समाचारपत्रों में परीक्षापत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था। इससे उन्हें कालेज में प्रतिनिधित्व का काम मिल गया। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकलकर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ। सार्वजनिक जीवन को वह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम० ए० के परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के सम्पादक महोदय ने वाणप्रस्थ लेने की ठानी और पत्रिका का भार ईश्वरचन्द्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबूजी को यह समाचार मिला तो उछल पड़े। धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मानपद के योग्य समझा गया। इसमें सन्देह नहीं कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली-भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्तिलाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय में स्वातन्त्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर चलाने के इच्छुक थे। इन इरादों के पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वे प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी में कूद पड़े।

(२)

ईश्वरचन्द्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य कुल की लड़की थी और वह ऐसे कुलों की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरवप्रेम से सम्पन्न थी। यह समाचार

पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर क़ानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके क़ानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचन्द्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्रसम्पादन एक बहुत ही ईर्ष्यायुक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्यातिलाभ का एक यन्त्र समझा था। उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिन्ता में उन्हें क़ानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबें खोलकर बैठते कि १०० पृष्ठ समाप्त किये बिना कदापि न उठूँगा, किन्तु ज्योंही डाक का पुलिन्दा आ जाता, वे अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली की खुली रह जाती थी। बार-बार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूँगा और एक निर्दिष्ट समय से अधिक सम्पादकार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल क़ाबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोंक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्यचमत्कार, लेखकों का रचनाकौशल इत्यादि सभी बातें उनपर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहकसंख्या बढ़ाने की चिन्ता और पत्रिका को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गये और वे इसके लिए बिलकुल तैयार न थे। वे उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण यह सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा और तब मैं निश्चिन्त होकर परीक्षा में बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या

मैं ही रह जाऊँगा ! मानकी ने उनकी यह बातें सुनीं तो ख़ूब दिल के फफोले फोड़े—'मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसीलिए बार-बार रोकती ; लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।' उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—अभी इस काम को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दो, क़ानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वन्द्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना।' लेकिन ईश्वरचन्द एक बार मैदान में आकर भागना निन्द्य समझते थे। हाँ, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिए तन-मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नये वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने क़ानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्यक्रम निश्चित किया, रोजनामचा लिखने लगे और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारों ओर से जकड़ा ; मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है ! क़ानून में वे बातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ ! बाबू साहब अब नित्य एक खोई हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घण्टों में घण्टे-दो-घण्टे क़ानून भी देख लिया करते थे। इस नशे ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गये। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं क़ानून के लायक नहीं रहा और, इस ज्ञान ने क़ानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में सन्तोषवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्व संस्कार के सिद्धान्तों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—यह क्या बात है ? क्या क़ानून से फिर जी का उचाट हुआ ?

ईश्वरचन्द्र ने दुस्साहसपूर्ण भाव से उत्तर दिया—हाँ भई, मेरा जी उससे भागता है।

मानकी ने व्यंग्य से कहा—बहुत कठिन है ?

ईश्वरचन्द्र—कठिन नहीं है, और कठिन भी होता तो मैं उससे डरनेवाला न था ; लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों ज्यों वकीलों की आतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति

पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर क़ानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके क़ानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचन्द्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्रसम्पादन एक बहुत ही ईर्ष्यायुक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्यातिलाभ का एक यन्त्र समझा था। उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिन्ता में उन्हें क़ानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबें खोलकर बैठते कि १०० पृष्ठ समाप्त किये बिना कदापि न उठूँगा, किन्तु ज्योंही डाक का पुलिन्दा आ जाता, वे अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली की खुली रह जाती थी। बार-बार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूँगा और एक निर्दिष्ट समय से अधिक सम्पादकार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल क़ाबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोंक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्यचमत्कार, लेखकों का रचनाकौशल इत्यादि सभी बातें उनपर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहकसंख्या बढ़ाने की चिन्ता और पत्रिका को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गये और वे इसके लिए बिलकुल तैयार न थे। वे उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण यह सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा और तब मैं निश्चिन्त होकर परीक्षा में बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या

ईश्वरचन्द्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निन्दा करते हुए कहा, यह लोग दूसरों की कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचन्द्र ने बगलें झाँकते हुए कहा—हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।

मानकी—यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिए जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही है, जितनी पत्रवालों की। अन्तर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जलप्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी दो घड़ी के लिए पानी आ गया।

ईश्वर०—पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और यह मान भी लूँ तो यह किसी तरह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्रसंचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। यूरोप और अमरीका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गये हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचारपत्रों के सम्पादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी ... ...।

ईश्वरचन्द्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्रसञ्चालन से उत्तम और कोई साधन नहीं है, और इससे बड़ी बात तो यह है कि इस जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं, परन्तु मानकी पर इस वक्तृता का जरा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीज़ें साफ़ नहीं दीखतीं। मानकी के सामने सफल सम्पादक का कोई उदाहरण न था।

(२)

१६ वर्ष गुज़र गये। ईश्वरचन्द्र ने सम्पादकीय जगत् में ख़ूब नाम पैदा

भी ऐसा नहीं जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूलतत्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आन्दोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थ-सिद्धि करने के लिए, अपना ढोल पीटने के लिए। हम लोगों का समग्र जीवन वासना भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित समुदाय इसी दर्गाह का मुजावर होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो, हम केवल ख्याति और स्वार्थ-लाभ के लिए उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी नहीं हो सकता। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धिबल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर, चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।

मानकी चिढ़कर बोली—पहले तो तुम वकीलों की इतनी निन्दा न करते थे!

ईश्वरचन्द्र ने उत्तर दिया—तब अनुभव न था। बाहरी टीमटाम ने वशीकरण कर दिया था।

मानकी—क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है, मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना रोते हुए पाती हूँ। कोई अपने ग्राहकों से नये ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चन्दा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षाप्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझती, जिसके पास न कोई सनद है, न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, वहाँ कोई पढ़ता है डाक्टरी, कोई इंजिनियरी, कोई सिविल सर्विस, लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्वाकांक्षाओं को खाक में मिलाकर त्याग और विराग मे उम्र काटे? हाँ, जिनको सनक सवार हो गयी हो, उनकी बात निराली है।

ईश्वरचन्द्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निन्दा करते हुए कहा, यह लोग दूसरों की कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचन्द्र ने बगलें झाँकते हुए कहा—हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।

मानकी—यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिए जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही है, जितनी पत्रवालों की। अन्तर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जलप्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी दो घड़ी के लिए पानी आ गया।

ईश्वर०—पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और यह मान भी लूँ तो यह किसी तरह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्रसंचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। यूरोप और अमरीका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गये हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचारपत्रों के सम्पादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी......।

ईश्वरचन्द्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्रसञ्चालन से उत्तम और कोई साधन नहीं है, और इससे बड़ी बात तो यह है कि इस जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं; परन्तु मानकी पर इस वक्तृता का जरा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीज़ें साफ नहीं दीखतीं। मानकी के सामने सफल सम्पादक का कोई उदाहरण न था।

(२)

१६ वर्ष गुज़र गये। ईश्वरचन्द्र ने सम्पादकीय जगत् में खूब नाम पैदा

किया, जातीय आन्दोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मानपात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में जा पहुँचा, छोटे लड़के नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन-सम्पन्न कुल में किया। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है, मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोषजनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हजार की जायदाद हाथ से निकल गयी, इस पर भी बंक का कुछ-न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाजार में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाज़ार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवावस्था की अदूरदर्शिता पर अफ़सोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय में तरंगें मारता था; लेकिन वह देखते थे कि काम तो मैं तय करता हूँ और यश वकीलों और सेठों के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुट-भैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर यह भाव कभी व्यक्त न होता था। इन्हीं कारणों से ईश्वरचन्द्र को अब सम्पादन-कार्य से अरुचि होती थी। दिनों-दिन उत्साह क्षीण होता जाता था, लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में अब सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका दोनों ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, .खुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनों पत्रों की जड़ जम चुकी थी, इसलिए ग्राहकसंख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निर्वाह कहाँ। "गौरव" के प्रतियोगी खड़े कर दिये, जिनके नवीन उत्साह ने "गौरव" से बाजी मार ली। उसका बाजार ठंडा होने लगा। नये प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धान्त भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे; लेकिन आगन्तुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नयी जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचन्द्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में जोर लगायें, लेकिन न अपने में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बँटानेवाला नजर आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों

से देखकर हतोत्साह हो जाते थे। हाँ! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत को बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भींगा और इतने परिश्रम के बाद जब फसल काटने के दिन आये तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग जिनका उस समय कहीं पता न था, अनाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता तो "गौरव" अब भी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर सकता। सभ्य-समाज में उनकी धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी। जरूरत केवल ताज़े खून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज़्यादा उपयुक्त इस काम के लिए और कोई न दीखता था। उसकी रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को ज़बान पर न ला सके थे। इसी चिन्ता में दो साल गुजर गये और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो "गौरव" का टाट उलट दिया जाय या इसे पुनः अपने स्थान पर पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हुआ जाय। ईश्वरचन्द्र ने इसके पुनरुद्धार के लिए अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। इससे उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध था। उसको बन्द करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राणरक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने को उद्यत कर दिया। फिर दिन-के-दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे। एक क्षण के लिए भी सिर न उठाते। "गौरव" के लेखों में फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों का उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसासूचक आलोचनाएँ निकलने लगीं। पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनःसंस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृद्रोग के लक्षण दिखाई देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा में वह सुबह से शाम तक अपने काम में तल्लीन रहते। देश धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचन्द्र की सदय प्रकृति ने

उन्हें श्रम का सपत्ती बना दिया था। धनवादियों का खण्डन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि यह चिनगारियाँ केन्द्रस्थ गरमी को छिन्न किये देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गये थे। सरदी खूब पड़ रही थी। मानकी दबे पैर उनके कमरे में आयी। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में कलम लिये किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें जरा भी आहट न मिली। मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदनायुक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली, 'अब तो यह पोथा बन्द करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।'

ईश्वरचन्द्र ने चौंककर सिर उठाया और बोले—क्यों, क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी जरा भी भूख नहीं है।

मानकी—कुछ थोड़ा-सा खा लो न।

ईश्वर०—एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।

मानकी—मैं देखती हूँ तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है। दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है?

ईश्वर०—अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को देखूँ जिसने समस्त देश में हलचल मचा रखी है। हजारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे तो क्या चिन्ता?

मानकी—कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते?

ईश्वरचन्द्र ने ठंडी साँस लेकर कहा—बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो कहूँ।

मानकी—कहो, सुनूँगी। मानने लायक होगी, तो मानूँगी क्यो नहीं!

ईश्वरचन्द्र—मैं चाहता हूँ कि कृष्णचन्द्र को अपने काम में शरीक कर दूँ। अब तो वह एम० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है, मालूम होता है कि ईश्वर ने उसे इसी काम के लिए बनाया है।

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा—क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने

का इरादा है ? घर की सेवा करनेवाला भी कोई चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे ?

ईश्वर०—कृष्णचन्द्र यहाँ किसी से बुरा न रहेगा।

मानकी—क्षमा कीजिए। बाज़ आयी। वह कोई दूसरा काम करेगा जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूँक काम आप ही को मुबारक रहे।

ईश्वर—वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचन्द्र उस पेशे के लिए सर्वथा अयोग्य है।

मानकी—वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूँगी।

ईश्वर०—तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम में घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग मौजूद हैं जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।

मानकी—इस काम में तो अगर कंचन भी बरसे, तो मैं उसे न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।

यह जाति का सच्चा सेवक अन्त को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्तालाप के बाद मुश्किल से नौ महीने गुज़रे थे कि ईश्वरचन्द्र ने संसार से प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और प्रजा-कष्टों के विरोध में कटा था। अपने सिद्धान्तों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी हनन नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक समाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाज़ार बन्द हो गये, शोक के जलसे होने लगे, सहयोगी पत्रों ने प्रति-द्वन्द्विता के भाव को त्याग दिया, चारों ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतन्त्र, सत्यवादी और विचारशील सम्पादक तथा एक निर्भीक, त्यागी, देश-भक्त उठ गया और उसका स्थान चिरकाल तक खाली रहेगा। ईश्वरचन्द्र इतने बहुजनप्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था। उनका शव निकला तो सारा शहर, गण्य-अगण्य, अर्थी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे।

कहीं छात्रवृत्तियाँ दी गयीं, कहीं उनके चित्र बनवाये गये, पर सबसे अधिक महत्वशील वह मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोकसम्मान देखकर सुखमय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की कद्र न की। सारा नगर उनके लिए शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किये हैं जिन्हें ये भूल नहीं सकते, और मैं अन्त तक उनके मार्ग का कटक बनी रही, सदैव तृष्णा के वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती, तो मैं खुश होती, अपना धन्य-भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिए आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता? यहीं एक से-एक धनिक पुरुष पड़े हुए हैं। वे दुनिया से चले जाते हैं और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्ति दी जायगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्यालाभ करेंगे वे मरते दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्मत्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर पर्दा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों ज्यों ये भावनाएँ जाग्रत होती थीं, उसे पति में श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्तिगान और जनसम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरान्त अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिन्ताजनक न थी। कृष्णचन्द्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धिबल ने उनकी वकालत को चमका दिया था। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हें हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचन्द्र अपने ऊपर जब्र करते थे। माँ का दिल दुखाना उन्हें मंजूर न था।

ईश्वरचन्द्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक गरीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गयी। यह उसकी चिरसंचित अभिलाषा थी जो अब पुत्र की मातृभक्ति ने पूरी कर दी थी। वह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज आयी और एक क्षण के बाद एक जलूस सामने आता हुआ

दिखायी दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके बाद अश्वारोही स्वयंसेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारीगाड़ियाँ थीं। सबसे पीछे एक सजे हुए रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—'यह किस देवता का विमान है? न तो रामलीला के ही दिन हैं, न रथयात्रा के!' सहसा उसका दिल जोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचन्द्र की मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से बनवाई गयी थी और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने के लिए लिये जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति। मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था। मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कण्ठा हुई कि परदे से निकलकर इस जलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किन्तु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धनलिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती तो वह न जाने किस सम्मानपद पर पहुँचते। मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ! घरवालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कहीं उत्साहजनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामीजी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुःखी किया है। मैंने बाज को पिंजड़े में बन्द करके रखा था। शोक!

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था।

सन्ध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छाई हुई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आये थे। सूर्यदेव कभी मेघपट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह में ईश्वरचन्द्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्नमुख और कभी सन्ध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गई, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुण-वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कारपूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे।

वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी और मुँह ढाँपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गये।

वह घर आई तो नौ बज गये थे। कृष्ण उसे देखकर बोले—अम्माँ, आज आप इस वक्त कहाँ गयी थीं?

मानकी ने हर्ष से कहा—गयी थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वही साक्षात् खड़े हैं।

कृष्ण—जयपुर से बनकर आई है।

मानकी—पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे!

कृष्ण—उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुजरा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।

मानकी—लेकिन उन्होंने वकालत कब की?

कृष्ण—हाँ, यह वकाल्त नहीं की, जो मैं और मेरे हजारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का खून हो रहा है। उनकी वकालत उच्चकोटि की थी।

मानकी—अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते?

कृष्ण—बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए, दूसरों के लिए रोइए, दीनों की रक्षा के लिए लट्ठ लिये फिरिए, और इस कष्ट और अपमान और यत्रणा का पुरस्कार क्या है? अपनी जीवनाभिलाषाओं की हत्या।

मानकी—लेकिन यश तो होता है?

कृष्ण—हाँ, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।

मानकी—जब इतना यश मिलता है तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते तो उसी वाटिका को चलाते जायँ जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगाई। इससे उनकी आत्मा को शांति होगी।

कृष्णचन्द्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।

मानकी—कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा? आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आये, तो मैं आँखें न नीची करूँ।

———

पाप का अग्निकुण्ड

कुँवर पृथ्वीसिंह महाराज यशवन्तसिंह के पुत्र थे। रूप, गुण और विद्या में प्रसिद्ध थे। ईरान, मिस्र, श्याम आदि देशों में परिभ्रमण कर चुके थे और कई भाषाओं के पण्डित समझे जाते थे। इनकी एक बहिन थी जिसका नाम राजनन्दिनी था। यह भी जैसी रूपवती और सर्वगुणसंपन्ना थी वैसी ही प्रसन्न-वदना और मृदुभाषिणी भी थी। कड़वी बात कहकर किसी का जी दुखाना उसे पसन्द नहीं था। पाप को तो वह अपने पास भी नहीं फटकने देती थी। यहाँ तक कि कई बार महाराज यशवन्तसिंह से भी वाद-विवाद कर चुकी थी और जब कभी उन्हें किसी बहाने कोई अनुचित काम करते देखती, तो उसे यथाशक्ति रोकने की चेष्टा करती। इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह से हुआ था। यह एक छोटी रियासत का अधिकारी और महाराज यशवन्तसिंह की सेना का उच्च पदाधिकारी था। धर्मसिंह बड़ा उदार और कर्मवीर था। इसे होनहार देखकर महाराज ने राजनन्दिनी को इसके साथ ब्याह दिया था और दोनों बड़े प्रेम से अपना वैवाहिक जीवन बिताते थे। धर्मसिंह अधिकतर जोधपुर में ही रहता था। पृथ्वीसिंह उसके गाढे मित्र थे। इनमें जैसी मित्रता थी, वैसी भाइयों में भी नहीं होती। जिस प्रकार दोनों राजकुमारों में मित्रता थी, उसी प्रकार दोनों राजकुमारियाँ भी एक दूसरी पर जान देती थीं। पृथ्वीसिंह की स्त्री दुर्गाकुँवरि बहुत सुशील और चतुरा थी। ननद-भावज में अनबन होना लोकरीति है, पर इन दोनों में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरी को कभी कल नहीं पड़ता था। दोनों स्त्रियाँ संस्कृत से प्रेम रखती थीं।

एक दिन दोनों राजकुमारियाँ बाग़ की सैर में मग्न थीं कि एक दासी ने राजनन्दिनी के हाथ में एक काग़ज़ लाकर रख दिया। राजनन्दिनी ने उसे खोला तो वह संस्कृत का एक पत्र था। उसे पढ़कर उसने दासी से कहा कि उन्हें भेज दे। थोड़ी देर में एक स्त्री सिर से पैर तक एक चादर ओढ़े आती दिखाई दी। इसकी उम्र २५ साल से अधिक न थी, पर रंग पीला था। आँखें

बड़ी और ओठ सूखे। चाल-ढाल में कोमलता थी और उसके डील-डौल की गठन बहुत ही मनोहर थी। अनुमान से जान पड़ता था कि समय ने इसकी यह दशा कर रखी है, पर एक समय वह भी होगा जब यह बड़ी सुन्दर होगी। इस स्त्री ने आकर चौखट चूमी और आशीर्वाद देकर फ़र्श पर बैठ गयी। राजनन्दिनी ने इसे सिर से पैर तक बड़े ध्यान से देखा और पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

उसने उत्तर दिया, "मुझे ब्रजविलासिनी कहते हैं।"

"कहाँ रहती हो?"

"यहाँ से तीन दिन की राह पर एक गाँव विक्रमनगर है, वहाँ मेरा घर है।"

"संस्कृत कहाँ पढ़ी है?"

"मेरे पिताजी संस्कृत के बड़े पण्डित थे, उन्होंने थोड़ी-बहुत पढ़ा दी है।"

"तुम्हारा ब्याह तो हो गया है न?"

ब्याह का नाम सुनते ही ब्रजविलासिनी की आँखों से आँसू बहने लगे। वह आवाज सम्हालकर बोली—इसका जवाब मैं फिर कभी दूँगी, मेरी राम-कहानी बड़ी दुःखमय है। उसे सुनकर आपको दुःख होगा, इसलिए इस समय क्षमा कीजिए।

आज से ब्रजविलासिनी वहीं रहने लगी। संस्कृत-साहित्य में उसका बहुत प्रवेश था। वह राजकुमारियों को प्रतिदिन रोचक कविता पढ़कर सुनाती थी। उसके रंग, रूप और विद्या ने धीरे-धीरे राजकुमारियों के मन में उसके प्रति प्रेम और प्रतिष्ठा उत्पन्न कर दी। यहाँ तक कि राजकुमारियों और ब्रजविलासिनी के बीच बड़ाई-छुटाई उठ गयी और वे सहेलियों की भाँति रहने लगीं।

(२)

कई महीने बीत गये। कुँवर पृथ्वीसिंह और धर्म दोनों महाराज के साथ अफ़गानिस्तान की मुहीम पर गये हुए थे। यह विरह की घड़ियाँ मेघदूत और रघुवंश के पढ़ने में कटीं। ब्रजविलासिनी को कालिदास की कविता से बहुत प्रेम था और उनके काव्यों की व्याख्या ऐसी उत्तमता से करती और उसमें ऐसी बारीकियाँ निकालती कि दोनों राजकुमारियाँ मुग्ध हो जातीं।

एक दिन संध्या का समय था, दोनों राजकुमारियाँ फुलवाड़ी में सैर करने

गयीं, तो देखा कि ब्रजविलासिनी हरी-हरी घास पर लेटी हुई है और उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। राजकुमारियों के अच्छे बर्ताव और स्नेहपूर्ण बात-चीत से उसकी सुन्दरता कुछ चमक गयी थी। इनके साथ अब वह भी राजा-कुमारी जान पड़ती थी; पर इन सबों बातों के रहते भी वह बेचारी बहुधा एकान्त में बैठकर रोया करती। उसके दिल पर एक ऐसी चोट थी कि वह उसे दम भर भी चैन नहीं लेने देती थी। राजकुमारियाँ उस समय उसे रोती देखकर बड़ी सहानुभूति के साथ उसके पास बैठ गयीं। राजनन्दिनी ने उसका सिर अपनी जाँघ पर रख लिया और उसके गुलाब-से गालों को थप-थपाकर कहा—सखी, तुम अपने दिल का हाल हमें न बताओगी? क्या अब भी हम गैर हैं? तुम्हारा यों अकेले दुःख की आग में जलना हमसे नहीं देखा जाता।

ब्रजविलासिनी आवाज सम्हालकर बोली—बहिन, मैं अभागिनी हूँ। मेरा हाल मत सुनो।

राज०—अगर बुरा न मानों तो एक बात पूछूँ।

ब्रज०—क्या, कहो?

राज०—वही जो मैंने पहले दिन पूछा था, तुम्हारा ब्याह हुआ है कि नहीं?

ब्रज०—इसका जवाब मैं क्या दूँ? अभी नहीं हुआ।

राज०—क्या किसी का प्रेम-बाण हृदय में चुभा है?

ब्रज०—नहीं बहिन, ईश्वर जानता है।

राज०—तो इतनी उदास क्यों रहती हो? क्या प्रेम का आनन्द उठाने को जी चाहता है?

ब्रज०—नहीं, दुःख के सिवा मन में प्रेम को स्थान ही नहीं।

राज०—हम प्रेम का स्थान पैदा कर देंगी।

ब्रजविलासिनी इशारा समझ गयी और बोली—बहिन, इन बातों की चर्चा न करो।

राज०—मैं अब तुम्हारा ब्याह रचाऊँगी। दीवान जयचन्द को तुमने देखा है?

ब्रजविलासिनी आँखों में आँसू भरकर बोली—राजकुमारी, मैं व्रतधारिणी हूँ और अपने व्रत को पूरा करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। प्रण को निभाने

के लिए मैं जीती हूँ, नहीं तो मैंने ऐसी आफतें झेली हैं कि जीने की इच्छा अब नहीं रही। मेरे बाप विक्रमनगर के जागीरदार थे। मेरे सिवा उनके कोई संतान न थी। वे मुझे प्राणों से अधिक प्यार करते थे। मेरे ही लिए उन्होंने बरसों संस्कृत-साहित्य पढ़ा था। युद्ध विद्या में वे बड़े निपुण थे और कई बार लड़ाइयों पर गये थे।

एक दिन गोधूलि-वेला में सब गायें जंगल से लौट रही थीं। मैं अपने द्वार पर खड़ी थी। इतने में एक जवान बाँकी पगड़ी बाँधे हथियार सजाये, झूमता आता दिखाई दिया। मेरी प्यासी मोहिनी इस समय जंगल से लौटी थी, और उसका बच्चा इधर कलोलें कर रहा था। संयोगवश बच्चा उस नौजवान से टकरा गया। गाय उस आदमी पर झपटी। राजपूत बड़ा साहसी था। उसने शायद सोचा कि भागता हूँ तो कलंक का टीका लगता है, तुरन्त तलवार म्यान से खींच ली और वह गाय पर झपटा। गाय झल्लाई हुई तो थी ही, कुछ भी न डरी। मेरी आँखों के सामने उस राजपूत ने उस प्यारी गाय को जान से मार डाला। देखते-देखते सैकड़ों आदमी जमा हो गये और उसको टेढ़ी-सीधी सुनाने लगे। इतने में पिताजी भी आ गये। वे सन्ध्या करने गये थे। उन्होंने आकर देखा कि द्वार पर सैकड़ों आदमियों की भीड़ लगी है, गाय तड़प रही है और उसका बच्चा खड़ा रो रहा है। पिताजी की आहट सुनते ही गाय कराहने लगी और उनकी ओर उसने कुछ ऐसी दृष्टि से देखा कि उन्हें क्रोध आ गया। मेरे बाद उन्हें वह गाय ही प्यारी थी। वे ललकारकर बोले—मेरी गाय किसने मारी है? नवजवान लज्जा से सिर झुकाये सामने आया और बोला—मैंने।

पिताजी—तुम क्षत्रिय हो?

राजपूत—हाँ!

पिताजी—तो किसी क्षत्रिय से हाथ मिलाते!

राजपूत का चेहरा तमतमा गया। बोला—कोई क्षत्रिय सामने आ जाय। हजारों आदमी खड़े थे, पर किसी का साहस न हुआ कि उस राजपूत का सामना करे। यह देखकर पिताजी ने तलवार खींच ली और वे उस पर टूट पड़े। उसने भी तलवार निकाल ली और दोनों आदमियों में तलवारें चलने

लगीं। पिताजी बूढ़े थे ; सीने पर जख्म गहरा लगा, गिर पड़े। उन्हें उठाकर लोग घर पर लाये। उनका चेहरा पीला था, पर उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। मैं रोती हुई उनके सामने आयी। मुझे देखते ही उन्होंने सब आदमियों को वहाँ से हट जाने का संकेत किया। जब मैं और पिताजी अकेले रह गये, तो वे बोले—बेटी, तुम राजपुतानी हो?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—राजपूत बात के धनी होते हैं?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—इस राजपूत ने मेरी गाय की जान ली है, इसका बदला तुम्हें लेना होगा।

मैं—आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।

पिताजी—अगर मेरा बेटा जीता होता तो मैं यह बोझ तुम्हारी गर्दन पर न रखता।

मैं—आपकी जो कुछ आज्ञा होगी, मैं सिर-आँखों से पूरी करूँगी।

पिताजी—तुम प्रतिज्ञा करती हो?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—इस प्रतिज्ञा को पूरा कर दिखाओगी।

मैं—जहाँ तक मेरा वश चलेगा, मैं निश्चय यह प्रतिज्ञा पूरी करूँगी।

पिताजी—यह मेरी तलवार लो। जब तक तुम यह तलवार उस राजपूत के कलेजे में न भोंक दो, तब तक भोग-विलास न करना।

यह कहते कहते पिताजी के प्राण निकल गये। मैं उसी दिन से तलवार को कपड़ों में छिपाये उस नौजवान राजपूत की खोज में घूमने लगी। वर्षों बीत गये। मैं कभी बस्तियों में जाती, कभी पहाड़ों-जंगलों की खाक छानती; पर उस नौजवान का कहीं पता न मिलता। एक दिन मैं बैठी हुई अपने फूटे भाग पर रो रही थी कि वही नौजवान आदमी आता हुआ दिखायी दिया। मुझे देखकर उसने पूछा, तू कौन है? मैंने कहा, मैं दुखिया ब्राह्मणी हूँ, आप मुझपर दया कीजिए और मुझे कुछ खाने को दीजिये। राजपूत ने कहा, अच्छा, मेरे साथ आ।

मैं उठ खड़ी हुई। वह आदमी बेसुध था। मैंने बिजली की तरह लपककर

कपड़ों में से तलवार निकाली और उसके सीने में भोंक दी। इतने में कई आदमी आते हुए दिखाई पड़े। मैं तलवार छोड़कर भागी। तीन वर्ष तक पहाड़ों और जगलों में छिपी रही। बार बार जी में आया कि कहीं डूब मरूँ, पर जान बड़ी प्यारी होती है। न जाने क्या क्या मुसीबतें और कठिनाइयाँ भोगनी हैं, जिनको भोगने को अभी तक जीती हूँ। अन्त में जब जगल मे रहते-रहते जी उकता गया, तो जोधपुर चली आयी। यहाँ आपकी दयालुता की चर्चा सुनी। आपकी सेवा में आ पहुँची और तब से आपकी कृपा से मैं आराम से जीवन बिता रही हूँ। यही मेरी रामकहानी है।

राजनन्दिनी ने लम्बी साँस लेकर कहा—दुनिया में कैसे-कैसे लोग भरे हुए हैं। खैर, तुम्हारी तलवार ने तो उसका काम तमाम कर दिया?

ब्रजविलासिनी—कहाँ बहिन! वह बच गया, जखम ओछा पड़ा था। उसी शकल के एक नौजवान राजपूत को मैंने जगल में शिकार खेलते देखा था। यह नहीं मालूम, वही था या और कोई, शकल बिलकुल मिलती थी।

(३)

कई महीने बीत गये। राजकुमारियों ने जबसे ब्रजविलासिनी की रामकहानी सुनी है, उसके साथ वे और भी प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करने लगी हैं। पहले बिना सकोच कभी कभी छेड़छाड़ हो जाती थी, पर अब दोनों हरदम उसका दिल बहलाया करती हैं। एक दिन बादल घिरे हुए थे, राजनन्दिनी ने कहा—आज बिहारीलाल की 'सतसई' सुनने को जी चाहता है। वर्षा ऋतु पर उसमें बहुत अच्छे दोहे हैं।

दुर्गाकुँवरि—बड़ी अनमोल पुस्तक है। सखी तुम्हारी बगल मे जो अलमारी रखी है, उसी में वह पुस्तक है, जरा निकालना। ब्रजविलासिनी ने पुस्तक उतारी और उसका पहला पृष्ठ खोला था कि उसके हाथ से पुस्तक छूटकर गिर पड़ी। उसके पहले पृष्ठ पर एक तसवीर लगी हुई थी। वह उसी निर्दय युवक की तसवीर थी जो उसके बाप का हत्यारा था। ब्रजविलासिनी की आँखें लाल हो गयीं। त्योरी पर बल पड़ गये। अपनी प्रतिज्ञा याद आ गयी, पर उसके साथ ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस आदमी का चित्र यहाँ कैसे आया और इसका इन राजकुमारियों से क्या सम्बन्ध है? कहीं ऐसा न हो कि मुझे

इनका कृतज्ञ होकर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े। राजनन्दिनी ने उसकी सूरत देखकर कहा--सखी, क्या बात है ! यह क्रोध क्यों ? ब्रजविलासिनी ने सावधानी से कहा--कुछ नहीं, न जाने क्यों चक्कर आ गया था।

आज से ब्रजविलासिनी के मन में एक और चिन्ता उत्पन्न हुई—क्या मुझे राजकुमारियों का कृतज्ञ होकर अपना प्रण तोड़ना पड़ेगा !

पूरे सोलह महीने के बाद अफ़गानिस्तान से पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह लौटे। बादशाह की सेना को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बर्फ़ अधिकता से पड़ने लगी। पहाड़ों के दर्रे बर्फ़ से ढँक गये। आने-जाने के रास्ते बन्द हो गये। रसद के सामान कम मिलने लगे। सिपाही भूखों मरने लगे। अब अफ़गानों ने समय पाकर रात को छापे मारने शुरू किये। आख़िर शाहज़ादे मुहीउद्दीन को हिम्मत हारकर लौटना पड़ा।

दोनों राजकुमार ज्यों ज्यों जोधपुर के निकट पहुँचते थे, उत्कण्ठा से उनके मन उमड़े आते थे। इतने दिनों के वियोग के बाद फिर भेंट होगी। मिलने की तृष्णा बढ़ती जाती है। रात-दिन मंजिलें काटते चले आते हैं, न थकावट मालूम होती है, न माँदगी। दोनों घायल हो रहे हैं, पर फिर भी मिलने की ख़ुशी में ज़ख्मों की तकलीफ़ भूले हुए हैं। पृथ्वीसिंह दुर्गाकुँवरि के लिए एक अफ़गानी कटार लाये हैं। धर्मसिंह ने राजनन्दिनी के लिए काश्मीर का एक बहुमूल्य शाल जोड़ा मोल लिया है। दोनों के दिल उमंग से भरे हुए हैं।

राजकुमारियों ने जब सुना कि दोनों वीर वापस आते हैं, तो वे फूले अंगों न समाईं। शृंगार किया जाने लगा, माँगें मोतियों से भरी जाने लगीं, उनके चेहरे ख़ुशी से दमकने लगे। इतने दिनों के बिछोह के बाद फिर मिलाप होगा, ख़ुशी आँखों से उबली पड़ती है। एक दूसरे को छेड़ती हैं और ख़ुश होकर गले मिलती हैं।

अगहन का महीना था, बरगद की डालियों में मूँगे के दाने लगे हुए थे। जोधपुर के क़िले से सलामियों की धनगरज आवाज़ें आने लगीं। सारे नगर में धूम मच गयी कि कुँवर पृथ्वीसिंह सकुशल अफ़गानिस्तान से लौट आये। दोनों राजकुमारियाँ थालों में आरती के सामान लिये दरवाज़े पर खड़ी थीं।

उतारी और दोनों एक दूसरे को देखकर खुश हो गये। धर्मसिंह भी प्रसन्नता से ऐंठते हुए अपने महल में पहुँचे, पर भीतर पैर रखने भी न पाये थे कि छींक हुई और बाईं आँख फड़कने लगी। राजनन्दिनी आरती का थाल लेकर लपकी, पर उसका पैर फिसल गया और थाल हाथ से छूटकर गिर पड़ा। धर्मसिंह का माथा ठनका और राजनन्दिनी का चेहरा पीला हो गया। यह असगुन क्यों ?

व्रजविलासिनी ने दोनों राजकुमारों के आने का समाचार सुनकर उन दोनों को देने के लिए दो अभिनन्दन-पत्र बना रखे थे। सवेरे जब कुँवर पृथ्वीसिंह सन्ध्या आदि नित्य-क्रिया से निपटकर बैठे, तो वह उनके सामने आयी और उसने एक सुन्दर कुश की चँगेली में अभिनन्दन पत्र रख दिया। पृथ्वीसिंह ने उसे प्रसन्नता से लिया। कविता यद्यपि उतनी बढ़िया न थी, पर वह नयी और वीरता से भरी हुई थी। वे वीररस के प्रेमी थे, उसको पढ़कर बहुत खुश हुए और उन्होंने मोतियों का हार उपहार दिया।

व्रजविलासिनी यहाँ से छुट्टी पाकर कुँवर धर्मसिंह के पास पहुँची। वे बैठे हुए राजनन्दिनी को लड़ाई की घटनाएँ सुना रहे थे, पर ज्यों ही व्रजविलासिनी की आँख उन पर पड़ी, वह सन्न होकर पीछे हट गयी। उसको देखकर धर्मसिंह के चेहरे का भी रंग उड़ गया, होंठ सूख गये और हाथ-पैर सनसनाने लगे। व्रजविलासिनी तो उलटे पाँव लौटी, पर धर्मसिंह ने चारपाई पर लेटकर दोनो हाथों से मुँह ढँक लिया। राजनन्दिनी ने यह दृश्य देखा और उसका फूल सा बदन पसीने से तर हो गया। धर्मसिंह सारे दिन पलँग पर चुपचाप पड़े करवटें बदलते रहे। उनका चेहरा ऐसा कुम्हला गया जैसे वे बरसो के रोगी हों। राजनन्दिनी उनकी सेवा में लगी हुई थी। दिन तो यों कटा, रात को कुँवर साहब सन्ध्या ही से थकावट का बहाना करके लेट गये। राजनन्दिनी हैरान थी कि माजरा क्या है। व्रजविलासिनी इन्हीं के ख़ून की प्यासी है ? क्या यह सम्भव है कि मेरा प्यारा, मेरा मुकुट धर्मसिंह ऐसा कठोर हो ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वह यद्यपि चाहती है कि अपने भावों से उनके मन का बोझ हलका करे, पर नहीं कर सकती। अन्त को नींद ने उसको अपनी गोद में ले लिया।

(४)

रात बहुत बीत गयी है। आकाश में अँधेरा छा गया है। सारस की दुःख
री बोली कभी-कभी सुनाई दे जाती है और रह रहकर किले के सन्तरियों
आवाज़ कान में आ पड़ती है। राजनन्दिनी की आँख एकाएक खुली, तो
ने धर्मसिंह को पलँग पर न पाया। चिन्ता हुई, वह झट उठकर ब्रजविलासिनी
कमरे की ओर चली और दरवाजे पर खड़ी होकर भीतर की ओर देखने
। सदेह पूरा हो गया। क्या देखती है कि ब्रजविलासिनी हाथ में तेगा
खड़ी है और धर्मसिंह दोनों हाथ जोड़े उसके सामने दीनों की तरह घुटने
बैठे हैं। वह दृश्य देखते ही राजनन्दिनी का ख़ून सूख गया और उसके
में चक्कर आने लगा, पैर लड़खड़ाने लगे। जान पड़ता था कि गिरी जाती
वह अपने कमरे में आयी और मुँह ढँककर लेट रही, पर उसकी आँखों से
बूँद भी न निकली।

दूसरे दिन पृथ्वीसिंह बहुत सवेरे ही कुँवर धर्मसिंह के पास गये और
राकर बोले—भैया, मौसिम बड़ा सुहावना है, शिकार खेलने चलते हो?

धर्मसिंह—हाँ, चलो।

दोनों राजकुमारों ने घोड़े कसवाये और जंगल की ओर चल दिये।
सिंह का चेहरा खिला हुआ था, जैसे कमल का फूल। एक एक अंग से
और चुस्ती टपकी पड़ती थी; पर कुँवर धर्मसिंह का चेहरा मैला हो गया
मानो बदन में जान ही नहीं है। पृथ्वीसिंह ने उन्हें कई बार छेड़ा; पर
देखा कि वे बहुत दुखी हैं, तो चुप हो गये। चलते-चलते दोनों आदमी
के किनारे पर पहुँचे। एकाएक धर्मसिंह ठिठके और बोले—मैंने आज
को एक दृढ़ प्रतिज्ञा की है। यह कहते-कहते उनकी आँखों में पानी आ
। पृथ्वीसिंह ने घबड़ाकर पूछा—कैसी प्रतिज्ञा?

तुमने ब्रजविलासिनी का हाल सुना है? मैंने प्रतिज्ञा की है कि जिस आदमी
उसके बाप को मारा है, उसे भी जहन्नुम पहुँचा दूँ।

'तुमने सचमुच वीर-प्रतिज्ञा की है।'

'हाँ, यदि मैं पूरी न कर सकूँ। तुम्हारे विचार में ऐसा आदमी मारने योग्य
या नहीं?'

'ऐसे निर्दयी की गर्दन गुट्ठल छुरी से काटनी चाहिए।'

'बेशक, यही मेरा भी विचार है। यदि मैं किसी कारण यह काम न कर सकूँ, तो तुम मेरा प्रतिज्ञा पूरी कर दोगे?'

'बड़ी खुशी से। उसे पहचानते हो न?'

'हाँ, अच्छी तरह।'

'तो अच्छा होगा, यह काम मुझको ही करने दो, तुम्हें शायद उस पर दया आ जाय।'

'बहुत अच्छा, पर यह याद रखो कि वह आदमी बड़ा भाग्यशाली है! कई बार मौत के मुँह से बचकर निकला है। क्या आश्चर्य है कि तुमको भी उस पर दया आ जाय। इसलिए तुम प्रतिज्ञा करो कि उसे जरूर जहन्नुम में पहुँचाओगे।'

'मैं दुर्गा की शपथ खाकर कहता हूँ कि उस आदमी को अवश्य मारूँगा।'

'बस, तो हम दोनों मिलकर कार्य सिद्ध कर लेंगे। तुम अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहोगे न?'

'क्यों? क्या मैं सिपाही नहीं हूँ? एक बार जो प्रतिज्ञा की, समझ लो कि वह पूरी करूँगा, चाहे इसमें अपनी जान ही क्यों न चली जाय।'

'सब अवस्थाओं में?'

'हाँ, सब अवस्थाओं में।'

'यदि वह तुम्हारा कोई बन्धु हो तो?'

पृथ्वीसिंह ने धर्मसिंह को विचारपूर्वक देखकर कहा—कोई बन्धु हो तो?

धर्मसिंह—हाँ, सम्भव है कि तुम्हारा कोई नातेदार हो।

पृथ्वीसिंह—(जोश में) कोई हो, यदि मेरा भाई भी हो, तो भी जीता चुनवा दूँ।

धर्मसिंह घोड़े से उतर पड़े। उनका चेहरा उतरा हुआ था और ओठ काँप रहे थे। उन्होंने कमर से तेगा खोलकर जमीन पर रख दिया और पृथ्वीसिंह को ललकारकर कहा—पृथ्वीसिंह, तैयार हो जाओ। वह दुष्ट मिल गया। पृथ्वीसिंह ने चौंककर इधर-उधर देखा तो धर्मसिंह के सिवाय और कोई दिखाई न दिया।

धर्मसिंह—तेग़ा खींचो।

पृथ्वीसिंह—मैंने उसे नहीं देखा।

धर्मसिंह—वह तुम्हारे सामने खड़ा है। वह दुष्ट कुकर्मी धर्मसिंह ही है।

पृथ्वीसिंह—(घबड़ाकर) ऐं तुम!—मैं—

धर्मसिंह—राजपूत, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।

इतना सुनते ही पृथ्वीसिंह ने बिजली की तरह कमर से तेगा खींच लिया और उसे धर्मसिंह के सीने में चुभा दिया। मूठ तक तेग़ा चुभ गया। ख़ून का फ़व्वारा बह निकला। धर्मसिंह जमीन पर गिरकर धीरे से बोले—पृथ्वीसिंह, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूं। तुम सच्चे वीर हो। तुमने पुरुष का कर्तव्य पुरुष की भाँति पालन किया।

पृथ्वीसिंह यह सुनकर जमीन पर बैठ गये और रोने लगे।

(५)

अब राजनन्दिनी सती होने जा रही है। उसने सोलहों शृङ्गार किये हैं और माँग मोतियों से भरवाई है। कलाई में सोहाग का कगन है, पैरों में महावर लगायी है और लाल चुनरी ओढ़ी है। उसके अंग से सुगन्धि उड़ रही है, क्योंकि वह आज सती होने जाती है।

राजनन्दिनी का चेहरा सूर्य की भाँति प्रकाशमान है। उसकी ओर देखने से आँखों में चकाचौंध लग जाती है। प्रेम-मद से उसका रोयाँ रोयाँ मस्त हो गया है, उसकी आँखों से अलौकिक प्रकाश निकल रहा है। वह आज स्वर्ग की देवी जान पड़ती है। उसकी चाल बड़ी मदमाती है। वह अपने प्यारे पति का सिर अपनी गोद में लेती है और उस चिता में बैठ जाती है जो चन्दन, ख़स आदि से बनायी गयी है।

सारे नगर के लोग यह दृश्य देखने के लिए उमड़े चले आते हैं। बाजे बज रहे हैं, फूलों की वृष्टि हो रही है। सती चिता में बैठ चुकी थी कि इतने में कुँवर पृथ्वीसिंह आये और हाथ जोड़कर बोले—महारानी, मेरा अपराध क्षमा करो।

सती ने उत्तर दिया—क्षमा नहीं हो सकता। तुमने एक नौजवान राजपूत की जान ली है, तुम भी जवानी में मारे जाओगे।

सती के वचन कभी झूठे हुए हैं? एकाएक चिता में आग लग गयी। जयजयकार के शब्द गूँजने लगे। सती का मुख आग मे यों चमकता था, जैसे सवेरे की ललाई में सूर्य चमकता है। थोड़ी देर में वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न रहा।

इस सती के मन में कैसा सत था! परसों जब उसने व्रजविलासिनी को झिझककर धर्मसिंह के सामने जाते देखा था, उसी समय से उसके दिल में सदेह हो गया था। पर जब रात को उसने देखा कि मेरा पति इसी स्त्री के सामने दुखिया की तरह बैठा हुआ है, तब वह सन्देह निश्चय की सीमा तक पहुँच गया और यही निश्चय अपने साथ सत लेता आया था। सवेरे जब धर्मसिंह उठे तब राजनन्दिनी ने कहा था कि मैं व्रजविलासिनी के शत्रु का सिर चाहती हूँ, तुम्हें लाना होगा। और ऐसा ही हुआ। अपने सती होने के सब कारण राजनन्दिनी ने जान-बूझकर पैदा किये थे, क्योंकि उसके मन में सत था। पाप की आग कैसी तेज होती है? एक पाप ने कितनी जानें लीं? राजवश के दो राजकुमार और नो कुमारियाँ देखते-देखते इस अग्निकुण्ड में स्वाहा हो गयीं। सती का वचन सच हुआ। सात ही सप्ताह के भीतर पृथ्वीसिंह दिल्ली में कत्ल किये गये और दुर्गाकुमारी सती हो गयी।

———

आभूषण

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं। पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्यबाणों को नहीं ओढ़ सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि तृष्णा की पूर्ति के लिए जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिए आभूषणों की उतनी ही जरूरत है, जितनी घर के लिए दीपक की। किंतु शारीरिक शोभा के लिए हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं! इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्धा, कितनी दुश्चिंता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं, दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नववधू पति के घर आने के तीसरे दिन, अपने पति से कहती कि मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया।" शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुकेदार कुँवर सुरेशसिंह की नवविवाहिता वधू को देखने गयी थी। उसके सामने ही वह मन्त्रमुग्ध-सी हो गयी। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और वह जब से लौटकर घर आयी, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अन्त को ज्यों ही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी और दिल में भरा हुआ गुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उनके पुरखे किसी ज़माने में इलाकेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गयी है। सुरेशसिंह

के पिता जमींदारी के काम में दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाक़ा किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था, उसे दिन में दो बार भोजन भी मुश्किल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे, दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनों में भाईचारा निभाया जाता था। शादी ब्याह में, मूँडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या प्रेमी थे। हिंदुस्तान में ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह यूरोप चले गये और सब लोगों की शकाओं के विपरीत, वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोगलिप्सा और अमानुषिक मदाधता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत जोर देने पर भी विवाह करने को राजी नहीं हुए थे। लड़की से पूर्व-परिचय हुए बिना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर यूरोप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, बिना उसके आचार-विचार जाने हुए, विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बंधन नहीं, धर्म का बंधन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिए आज शीतला अपनी सास के साथ सुरेश के घर गयी थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गयी है। विमल ने व्यथित होकर कहा—तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।

शीतला—तो गाली क्यों देते हो?

विमल गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम-जैसी सुन्दरी को उन्होंने नाहक मेरे साथ ब्याहा।

शीतला—लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो!

विमल—भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपये कमाऊँ।

शीतला—यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।

विमल—तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?

शीतला—सभी को होता है। मुझे भी है।

विमल—अपने को अभागिनी समझती हो ?

शीतला—हूँ ही, समझना कैसा ? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता ?

विमल—गहने बनवा दूँ तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी ?

शीतला—(चिढ़कर) तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाजे पर बैठा है !

विमल—नहीं, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।

(२)

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्यहीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमलसिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा या वैधव्य शोक से। या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन-भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेमपाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर भी हट सके !

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था। उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्म-त्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मजदूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा और बंदर पर माल चढ़ाने उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने पीने के असंयम और कुछ जलवायु की खराबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति

जाती रही, फिर भी उससे ज्यादा मेहनती मजदूर बदर पर दूसरा न था। और मजदूर मजदूर थे, पर यह मजदूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर में कौन मेरा हितू है? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों क' लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है और मजदूर प्रातःकाल सेरों मिठाई खाकर जल-पान करते थे। दिन-भर दम-दम भर पर गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते थे। अवकाश पाते, तो, बाजार की सैर करते थे। कितनों ही को शराब का भी शौक था। पैसों के बदले रुपये कमाते थे, तो पैसों की जगह रुपये ख़र्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर साबूत कपड़े तक न थे, पर विमल उन गिनती के दो-चार मजदूरों में था जो सयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी सपत्ति हो गयी। धन के साथ और मजदूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते थे। सयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मत्र हैं। विमल मजदूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। सध्या हो गयी थी। वह कई मजदूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठा बातें कर रहा था।

एक मजदूर ने कहा—यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर १० बरस से उसी बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, सो उसके हाथ में रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनों साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा, न बात, न चीत। रात को औरत न जाने कब उठी और न जाने कहाँ चली गयी। लड़कों को छोड़ गयी। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुश्किल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छ महीने का है। कैसे जियेगा, भगवान् ही जाने।

विमलसिंह ने गभीर भाव से कहा—गहने बनवाता था कि नहीं?

मज़दूर—रुपये पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता?

दूसरे मजदूर ने कहा—गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज से कान भर जाते थे।

विमल—जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफ़ा होती है।

इतने में एक आदमी आकर विमलसिंह से बोला—चौधरी, अभी मुझे एक आदमी मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिंह हैं?

विमल ने सशंक होकर कहा—हाँ, हैं तो। मेरे गाँव के इलाक़ेदार और बिरादरी के भाई हैं

आदमी—उन्होंने थाने में कोई नोटिस छपवाया है कि जो विमलसिंह का पता लगावेगा उसे १०००) का इनाम मिलेगा।

विमल—तो तुमने सिपाही को ठीक-ठीक बतला दिया?

आदमी—चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या? समझ गया कुछ दाल में काला है। नहीं तो कोई इतने रुपये क्यों खरच करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिंह नहीं, जसोदा पाँडे है। बाप का नाम सुक्खू बताया और घर जिला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या चौधरी?

विमल—अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गयी हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-जमीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाई बतायी।

आदमी—मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०) तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा—आप तो हजार की गठरी मारेगा और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।

एक मजदूर—मगर जो २००) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते? क्यों? धत् तेरे लालची की!

आदमी—(लज्जित होकर) २००) नहीं, २०००) भी देता, तो न बताता। मुझे ऐसा विश्वासघात करनेवाला मत समझो। जब जी चाहे परख लो।

मजदूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ? जब सुरेश जैसे सज्जन की नीयत बदल गयी, तो अब किसका भरोसा करूँ! नहीं, अब बिना घर गये काम नहीं चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न हूँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३०००) ही होंगे। इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी। खैर, अभी चलूँ, छः महीने में फिर लौट आऊँगा। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं छः महीने रहने का क्या काम है? जाने-आने में एक महीना लग जायगा। घर में १५ दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जीऊँ, वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में विचार करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है, पर वास्तव में यह कितना भ्रम मूलक है? कुँवर सुरेशसिंह की नव-वधू मंगलाकुमारी गृह कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देनेवाली, अत्यन्त विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्मभीरु स्त्री थी, पर सौंदर्य-विहीन होने के कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेशसिंह बात-बात पर उससे झुँझलाते, पर घड़ी-भर में पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते, किन्तु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दम्पति जीवन ही में आनन्द, सुख शांति, विश्वास प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। और दाम्पत्य सुख से वंचित होकर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को खुश रखने के लिए अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती।

नौकरों को अपराध लगाकर आत्मरक्षा करना चाहती। पति को प्रसन्न रखने के लिए उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेलना की; पर उठने के बदले वह पति की नज़रों से गिरती ही गयी। वह नित्य नये शृंगार करती, पर लक्ष्य से दूर होती जाती थी। पति की एक मधुर मुसकान के लिए, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिये उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता था। लावण्यविहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल-भर आटे से सन्तुष्ट हो जाय। वह भी पति का सम्पूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुन्दरियों से अधिक, क्योंकि वह इसके लिए असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में विफल होकर और भी संतप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पनाहीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था। शीतला का अनुपम रूपलालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था; बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुन्दरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते। प्रेम की शक्ति अपार है; पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय द्वार पर बैठी हुई मंगला को अन्दर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदल कर आवे। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे; किन्तु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुख देखने आयी थी उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानों एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया, उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिए कि उनमें क्या अन्तर है! एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है! पर उसके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या

कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मगला को प्रसन्न रखूँगा। यदि वह सुन्दरी नहीं है तो उसका क्या दोष? पर उनका यह सब प्रयास मगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते थे, पर एक पक्षाघात पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते थे। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हें साहस ही न होता था। पर जब मगला ने अंत को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर दिया, वह उनसे उच्छृङ्खलता का व्यवहार करने लगी, तो उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द्र भी विलुप्त हो गया। घर में आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी। पखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बगीचे में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गयी थी, जो जहाँ था, वहीं मुर्दा सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदग की भाँति लोग के स्वर कर्कश हो गये थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते थे, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार कदम टहलते थे, फिर हाँफकर बैठ जाते थे। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते। सहसा उन्हें अंदर से गाने की आवाज सुनाई दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक्त की शहनाई है! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है और इन सबको गाने की सूझी है! मगला ने बुलाया होगा, और क्या! लोग नाहक कहते हैं कि स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बन्द भी होगा या नहीं। सब व्यर्थ में गला फाड़ फाड़कर चिल्ला रही हैं।

अन्त को न रहा गया। जनानखाने में आकर बोले—यह तुम लोगों ने क्या काँव काँव मचा रखी है! यह गाने बजाने का कौन-सा समय है? बाहर बैठना मुश्किल हो गया!

सन्नाटा छा गया। जैसे शोर-गुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय। सभी ने सिर झुका लिए और सिमट गयीं।

मंगला तुरन्त उठकर सामनेवाले कमरे में चली गयी। पति को बुलाया और आहिस्ते से बोली—क्यों इतना बिगड़ रहे हो?

"मैं इस वक्त गाना नहीं सुनना चाहता।"

"तुम्हें सुनाता ही कौन है? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है?"

"फ़जूल की धमचख—"

"तुमसे मतलब?"

"मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा?"

"तो मेरा घर कहीं और है?"

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—इन सबसे कह दो, फिर किसी वक्त आयें।

मंगला—इसलिए कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता?

"हाँ, इसीलिए।"

"तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे? तुम्हारे यहाँ मित्र आते हैं हँसी ठट्ठे की आवाज अन्दर सुनाई देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बन्द कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तदाजी क्यों करते हो?"

सुरेश ने तेज होकर कहा—इसलिए कि मैं घर का स्वामी हूँ।

मंगला—तुम बाहर के स्वामी हो, यहाँ मेरा अधिकार है।

सुरेश—क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा?

मंगला जरा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—अच्छी बात है। जब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी संपत्ति पर भी कोई अधिकार नहीं हो सकता।

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो! मेरा यह मतलब न था। कुछ का कुछ समझ गयीं।

मगला—मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही वह और जली कटी सुनायेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आये।

प्रात.काल ठढी हवा चल रही थी। सुरेश ख़ुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई नौकर आस पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानों बहू विदा हो रही है।

सुरेश समझ गये कि मगला को कल की बात लग गयी। पर उन्होंने उठकर कुछ पूछने की, मनाने की या समझाने की चेष्टा नहीं की। यह मेरा अपमान कर रही है, मेरा सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे, जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे गये चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन !

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे और मगला चली गयी। उनकी तरफ़ मुँह उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुकेदार की औरत के लिए यह मामूली बात न थी। हर किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी तरुण कौतूहल से देखती थीं और आँखों से कहती थीं—हा निर्दयी पुरुष ! इतना भी न हो सका कि एक डोला पर तो बैठा देता !

इस गाँव से निकलकर मगला उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गयी और मगला से बोली—बहन, ज़रा आकर दम ले लो।

मगला ने अन्दर जाकर देखा तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ

था। दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारों ओर दरिद्रता के चिह्न दिखाई देते थे।

शीतला ने पूछा—यह क्या हुआ ?

मंगला—जो भाग्य में लिखा था।

शीतला—कुँवरजी ने कुछ कहा-सुना क्या ?

मंगला—मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।

शीतला—अरे तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गयी ?

दुःख की अन्तिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—चाहती, तो अब भी पड़ी रहती। उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं, पूछ नहीं, मान नहीं; वहाँ अब नहीं रह सकती।

शीतला—तुम्हारा मैका कहाँ है ?

मंगला—मैके कौन मुँह लेकर जाऊँगी।

शीतला—तब कहाँ जाओगी ?

मंगला—ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी कि तुमने मुझे सुन्दरता क्यों नहीं दी ? बदसूरत क्यों बनाया ? बहन, स्त्री के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूपहीन हो। शायद पुरबुले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं है।

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं। सोचा—इसे क्या खिलाऊँगी। आज तो चूल्हा जलने की भी कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह देर तक बैठी सोचती रही, मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया ! इसे जेवर की क्या कमी थी ? क्या ये सारे जड़ाऊ जेवर इसे सुखी रख सके ? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिए मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा ! न जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं !

अपनी लालसा को, तृष्णा को वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। मंगला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गयी।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गये। शीतला को अब उनके बारे में

भाँति-भाँति की शकाएँ होने लगी थीं। आठों पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगा करती थी।

दिहात के छोटे-मोटे जमीदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गये। कोई जोतनेवाला न मिला। इस खयाल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गये, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपये उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफियत रही। अबकी महाजन ने रुपये नहीं दिये। शीतला के गहनों के सिर गयी। दूसरा साल समाप्त होते होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गयी। फाके होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननद और आप— चार प्राणियों का खर्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मैके में एक फौजदारी हो गयी। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गये। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर आ पर डटे। गाड़ी पहले मुश्किल से चलती थी, अब जमीन में धँस गयी।

प्रातःकाल से कलह का आरम हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता, कभी भोजन बनने पर भो गाली गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते, बुढ़िया दूसरो के घर जाकर अपना दुखड़ा रोती और ठकुर सोहाती कहती, पुरुष की अनुपस्थिति मे स्त्री के मैकेवालो का प्राधान्य हो जाता है। इस सग्राम में प्रायः विजय-पताका मैकेवालों ही के हाथ रहती है। किसी भाँति घर मे नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन? शीतला की माँ कहती, चार दिन के लिए आयी हूँ, तो क्या चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तग आ जाते। शीतला कभी माँ के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती, लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। माँ कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास

कहती, मेरी छाती पर सौत लाकर बैठा दी, अब बातें बनाती है ? इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गयी। सारी अमंगल शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गयीं। बस, अब यही चिंता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो ? माँ और सास, दोनों ही का यमराज के सिवा और कोई ठिकाना न था ; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती ; पर उस पथिक की भाँति, जो दिन-भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गयी था। चारों तरफ़ निगाहें दौड़ती कि कहीं कोई शरण का स्थान है ! पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, इंतज़ार में द्वार से हमें प्रेम हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिंह को सामने से घोड़े पर जाते देखा। उनकी आँखें उसकी ओर फिरीं। आँखें मिल गयीं। वह झिझककर पीछे हट गयी। किवाड़े बन्द कर लिये। कुँवर साहब आगे बढ़ गये। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर सारी फटी हुई थी, चारों तरफ़ उसमें पेवन्द लगे हुए थे। वह अपने मन में न जाने क्या कहते होंगे !

कुँवर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की ख़बर मिली थी। वह गुप्तरूप से उनकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने पीछे आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें संदेह नहीं कि कुँवर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जाग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुन्दरी मेरी नहीं हो सकती ! विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत संभव है कि वह अब संसार में न हो। किन्तु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते हुए डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात करना चाहती हो। अन्त को लालसा

की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गयी। वह शीतला के घर उसका हालचाल पूछने गये। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो और मैं उसकी बात भी न पूछूँ ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गयी थीं और नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह ! यह मनोहर छवि ! यह अनुपम सौंदर्य !

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिन्ता नहीं। इस स्वर्गीय आनन्द से मैं अपने को वंचित नहीं कर सकता ? वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकालकर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल ? मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा, पाप क्या है ? बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है ! क्या उसके अधरों—

अकस्मात् वह ठिठक गये, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य मे बुद्धि के अन्तर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र में हिम्मत हारकर भागनेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गये। ग्लानि से उनकी आँखें भर आयीं। वह कई मिनट तक किसी दण्डित कैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चिउटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला ! बहन ! मैं तेरा भाई हूँ !

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले, पर मुझे खबर तक न दी ! मैं कोई गैर न था। मुझे इसका दुःख है। ख़ैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा। इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपये भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो। जब तक जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

(५)

कई महीने बीत गये। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा

चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाये थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गये।

शीतला ने पूछा—कहाँ से आते हो भैया?

सुरेश—गया था ज़रा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ? इनाम और बढ़ा दूँ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपये बढे हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी? किस बात पर तुमसे रूठे थे?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या? मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया? बस, बातों ही बातों में तकरार हो गई।

इतने मे शीतला की सास आ गयी। सुरेश ने शीतला की माँ और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिए यहाँ अब शान्ति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अन्दर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थीं। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अन्त को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया।

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं? देश-विदेश जाना मर्दों का काम ही है।

सुरेश—यूरोप में तो धनभोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुन्दरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित होकर कहा—जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गये हैं!

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुखकान्ति मलिन हो गयी

की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गयी। वह शीतला के घर उसका हालचाल पूछने गये। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो और मैं उसकी बात भी न पूछूँ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गयी थीं और नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह! यह मनोहर छवि! यह अनुपम सौंदर्य!

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिन्ता नहीं। इस स्वर्गीय आनन्द से मैं अपने को वंचित नहीं कर सकता? वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकालकर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल? मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा, पाप क्या है? बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है! क्या उसके अधरों—

अकस्मात् वह ठिठक गये, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य में बुद्धि के अन्तर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र में हिम्मत हारकर भागनेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश का सचेत कर दिया। वह सँभल गये। ग्लानि से उनकी आँखें भर आयीं। वह कई मिनट तक किसी दण्डित कैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चिउटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला! बहन! मैं तेरा भाई हूँ!

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले, पर मुझे खबर तक न दी! मैं कोई गैर न था। मुझे इसका दुःख है। खैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा। इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपये भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो। जब तक जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

(५)

कई महीने बीत गये। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा

चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाये थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गये।

शीतला ने पूछा—कहाँ से आते हो भैया?

सुरेश—गया था ज़रा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ? इनाम और बढ़ा दूँ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपये बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी? किस बात पर तुमसे रूठे थे?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या? मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया? बस, बातों ही बातों में तकरार हो गई।

इतने में शीतला की सास आ गयी। सुरेश ने शीतला की माँ और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिए यहाँ अब शान्ति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अन्दर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थीं। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अन्त को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया।

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं? देश-विदेश जाना मर्दों का काम ही है।

सुरेश—यूरोप में तो धनभोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुन्दरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित होकर कहा—जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गये हैं!

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुखकान्ति मलिन हो गयी

है। पति वियोग मे भी गहनों के लिए इतनी लालायित है! बोले—अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।

यह वाक्य कुछ अपमानसूचक स्वर में कहा गया था, पर शीतला की आँखें आनन्द से सजल हो आयीं, कंठ गद्गद हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटिल आभूषणो का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली, पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—मैं तुम्हारी हूँ!

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल निर्मल जल में क्रीड़ा करके और मृग शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वह दिन-भर आईने के सामने खड़ी रहती है, कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आयी है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उसके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है? सोई हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद, उद्दीपना का मन्त्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियो की प्रशंसा से उसे संतोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगाररस-विहीन समझती है। इसलिए सुरेशसिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे, अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गयी थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर मे दीपक जल रहा था। उसने कुँवर साहब के बगीचे से बेले के फूल मँगवाये थे और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिए नहीं, सुरेश के लिए। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिए उसके पास और था ही क्या?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज सुनाई दी, और दम भर में विमलसिंह ने मकान के अन्दर कदम रखा। उनके एक हाथ में संदूक था, दूसरे हाथ

में एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला, जैसे कोई कैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—"कौन ?" फिर पहचान गयी। तुरंत फूल को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई और सिर झुकाकर पूछा—इतनी जल्दी सुध ली !

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो होकर कभी शीतला को देखता और कभी घर को मानो किसी नये संसार में पहुँच गया है। यह वह अध-खिला फूल न था जिसकी पँखुड़ियाँ अनुकूल जलवायु न पाकर सिमट गयी थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जल-कणों से जगमगाता और वायु के झोकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुंदरता पर पहले भी मुग्ध था; पर यह ज्योति वह अग्निज्वाला थी, जिससे हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट ! उससे सिर में एक चक्कर-सा आ गया। ज़मीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तंभित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोये, उसके पंखा तक नहीं झला। हतबुद्धि सी हो गयी थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी ! उस पर तुषार पड़ गया। वास्तव में इस मलिनवदन, अर्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का जमींदार विमल न था। वह मज़दूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मज़दूर सुंदर वस्त्रों में भी मज़दूर ही रहता है।

सहसा विमल की माँ चौंकी। शीतला के कमरे में आयीं, तो विमल को देखते ही मातृ स्नेह से विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रखा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। माँ पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण में विमल ने कहा—अम्मा !

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

माँ ने प्रश्न समझकर कहा—नहीं बेटा, यह बात नहीं है।

विमल—यह देखता क्या कहूँ ?

माँ—स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे ?

विमल—सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था ?

माँ—तुम्हारी खोज लेने के लिए। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।

विमल—बहुत अच्छा होता।

शीतला ने ताने से कहा—अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज नहीं बिछा गये थे।

विमल—अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।

शीतला—तुम किसी के भाग्य के विधाता हो ?

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—अम्माँ, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में ख़ून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल कलंकिनी के लिए तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता ; पर इसे न पा सका !

यह कहकर वह कमरे से निकल आया और माँ के कमरे में लेट रहा। माँ ने तुरन्त उसका मुँह और हाथ पैर धुलाये। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गयी, लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। जोर का बुखार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकान और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। माँ बैठी पंखा झलती और रोती थी। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिए भी न आई। इन्होंने मुझे कौन सोने के कौर खिला दिये हैं, जो इनकी धौंस सहूँ ! यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे बिदेस।' किसी की फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गये थे ? क्या लाद लाये ?

संध्या के समय सुरेश को खबर मिली। तुरन्त दौड़े हुए आये। आज दो महीने के बाद उन्होंने इस घर में क़दम रखा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान

गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिए वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेशसिंह आये हैं, तुरन्त शीशे के सामने गयी। केश छिटका लिये और विषाद की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आयी। कहाँ तो विमल की आँखें बन्द थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गयीं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—अभी आयी हैं ? आज के तीसरे दिन आना। कुँवर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।

शीतला उलटे पाँव चली गयी। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन में सोचा, कितना रूप लावण्य है ; पर कितना विषाक्त! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा!

आतंक बढ़ता गया। सुरेश ने डाक्टर बुलवाये ; पर मृत्यु-देव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे, पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है। और उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है! वह नित्य नये रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अन्त हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात ही को सबकी नजर बचाकर आते हैं और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाये हुए थे। वृक्षसमूह स्थिर थे ; पर शोक में मग्न, सिर झुकाये हुए। रात शोक का बाह्यरूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ाक्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्तनाद सुनाई दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिए मृत्यु-देव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी और घबराई हुई मरणशय्या की ओर चली। उसने

मृतदेह पर निगाह डाली और भयभीत होकर एक पग पीछे हट गयी। उसे जान पड़ा, विमलसिंह उसकी ओर अत्यत तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयकर ज्योति दिखाई पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गयी। कातर स्वर में बोली—मुझे वहाँ डर लगता है। उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरों पर गिर पड़ूँ, पर वह अलग हट गये।

(७)

जब किसी पथिक को चलते चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिए बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शाति-मार्ग पर आने के लिए विकल हो गये। मगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं यहीं जड़वत् पड़ा रहा और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गयी! मगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थीं, वे उन्हे मालूम थीं, पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मगला शांति प्रकृति की थी। वह इतनी उद्दण्डता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा था, वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती; उनका मन कहता था कि वह जीती है और कुशल से है। उसके मैकेवालों को कई पत्र लिखे, पर वहाँ व्यग्य और कटुवाक्यों के सिवा और क्या रखा था? अन्त को उन्होंने लिखा—अब उस रत्न की खोज में स्वय जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगा।

इस पत्र का उत्तर आया—अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।

सुरेशसिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखायी दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

ससुराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुरजी ने तो उन्हें पति धर्म पर एक लम्बा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ गयी और मुसकिराकर बोली—जीजाजी, कोई सुन्दरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे ?

सुरेश—(गंभीर स्वर से) कुटिला !

साली—और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप हीन स्त्री को त्याग दे ?

सुरेश—पशु !

साली—और जो पुरुष विद्वान् हो ?

सुरेश—पिशाच !

साली—(हँसकर) तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।

सुरेश—पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है !

साली—शर्त यह है कि प्रायश्चित्त सच्चा हो।

सुरेश—यह तो वह अन्तर्यामी ही जान सकते हैं।

साली—सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटिएगा।

सुरेश की आशा-नौका फिर डगमगाई। गिड़गिड़ाकर बोले—प्रभा, ईश्वर के लिए मुझपर दया करो। मैं बहुत दुःखी हूँ। साल-भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रोकर न सोया हूँ।

प्रभा ने उठकर कहा—अपने किये का क्या इलाज ? जाती हूँ, आराम कीजिए।

एक क्षण में मङ्गला की माता आकर बैठ गयी और बोली—बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-बिदेस घूम आये हो, सुन्दर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी ?

सुरेश ने विनय पूर्वक कहा—माताजी, अब ईश्वर के लिए और लज्जित न कीजिए।

माता—तुमने तो मेरी प्यारी बेटी के प्राण ले लिये ! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गयी ? जी में तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे ; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ ! आराम करो।

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक

द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं? किसी ने जवाब दिया—लाज आती है।

सुरेश ने आवाज पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आई और सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखाई दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।



जुगनू की चमक

पंजाब के सिंह राजा रणजीतसिंह संसार से चल चुके थे और राज्य के वे प्रतिष्ठित पुरुष जिनके द्वारा उसका उत्तम प्रबन्ध चल रहा था, परस्पर के द्वेष और अनबन के कारण मर मिटे थे। राजा रणजीतसिंह का बनाया हुआ सुन्दर किन्तु खोखला भवन अब नष्ट हो चुका था। कुँवर दिलीपसिंह अब इंग्लैंड में थे और रानी चन्द्रकुँवरि चुनार के दुर्ग में। रानी चन्द्रकुँवरि ने विनष्ट होते हुए राज्य को बहुत सँभालना चाहा; किन्तु शासन-प्रणाली न जानती थी और कूट-नीति ईर्ष्या की आग भड़काने के सिवा और क्या करती?

रात के बारह बज चुके थे। रानी चन्द्रकुँवरि अपने विलास-भवन के ऊपर छत पर खड़ी गंगा की ओर देख रही थी और सोचती थी—लहरें क्यों इस प्रकार स्वतन्त्र हैं? उन्होंने कितने गाँव और नगर डुबाये हैं, कितने जीव-जन्तु तथा द्रव्य निगल गयी हैं, किन्तु फिर भी वह स्वतन्त्र हैं। कोई उन्हें बन्द नहीं करता। इसलिए न कि वे बन्द नहीं रह सकतीं? वे गरजेंगी, बल खायेंगी—और बाँध के ऊपर चढ़कर उसे नष्ट कर देंगी, अपने ज़ोर से उसे बहा ले जायेंगी।

यह सोचते-विचारते रानी गादी पर लेट गयी। उसकी आँखों के सामने पूर्वावस्था की स्मृतियाँ मनोहर स्वप्न की भाँति आने लगीं। कभी उसकी भौंह की मरोड़ तलवार से भी अधिक तीव्र थी और उसकी मुसकराहट बसन्त की सुगन्धित समीर से भी अधिक प्राण-पोषक; किन्तु हाय, अब इनकी शक्ति हीनावस्था को पहुँच गयी। रोये तो अपने को सुनाने के लिए, हँसे तो अपने को बहलाने के लिए। यदि बिगड़े तो किसी का क्या बिगाड़ सकती है और प्रसन्न हो तो किसी का क्या बना सकती है? रानी और बाँदी में कितना अन्तर है? रानी की आँखों से आँसू की बूँदे झरने लगीं, जो कभी विष से अधिक प्राण-नाशक और अमृत से अधिक अनमोल थीं। वह इसी भाँति अकेली, निराश, कितनी बार रोयी, जब कि आकाश के तारों के सिवा और कोई देखनेवाला न था।

(२)

इसी प्रकार रोते-रोते रानी की आँखें लग गयीं। उसका प्यारा, कलेजे का टुकड़ा कुँवर दिलीपसिंह, जिसमें उसके प्राण बसते थे, उदास मुख आकर खड़ा हो गया। जैसे गाय दिन-भर जंगलों में रहने के पश्चात् संध्या को घर आती है और अपने बछड़े को देखते ही प्रेम और उमंग से मतवाली होकर स्तनों में दूध भरे, पूँछ उठाये, दौड़ती है, उसी भाँति चन्द्रकुँवरि अपने दोनों हाथ फैलाये अपने प्यारे कुँवर को छाती से लपटाने के लिए दौड़ी। परन्तु आँखें खुल गयीं और जीवन की आशाओं की भाँति वह स्वप्न विनष्ट हो गया। रानी ने गंगा की ओर देखा और कहा—मुझे भी अपने साथ लेती चलो। इसके बाद रानी तुरन्त छत से उतरी। कमरे में एक लालटेन जल रही थी। उसके उजेले में उसने एक मैली साड़ी पहनी, गहने उतार दिये, रत्नों के एक छोटे से बक्स को और एक तीव्र कटार को कमर में रखा। जिस समय वह बाहर निकली, नैराश्यपूर्ण साहस की मूर्ति थी।

सन्तरी ने पुकारा—कौन? रानी ने उत्तर दिया—मैं हूँ झगी।

'कहाँ जाता है?'

'गंगाजल लाऊँगी। सुराही टूट गयी है, रानीजी पानी माँग रही हैं।'

सन्तरी कुछ समीप आकर बोला—चल, मैं भी तेरे साथ चलता हूँ, जरा रुक जा।

झगी बोली—मेरे साथ मत आओ। रानी कोठे पर हैं। देख लेंगी।

सन्तरी को धोखा देकर चन्द्रकुँवरि गुप्त द्वार से होती हुई अँधेरे में काँटों से उलझती, चट्टानों से टकराती, गंगा के किनारे जा पहुँची।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी। गंगाजी में संतोषदायिनी शान्ति विराज रही थी। तरंगें तारों को गोद में लिए सो रही थीं। चारों ओर सन्नाटा था।

रानी नदी के किनारे किनारे चली जाती थी और मुड़-मुड़कर पीछे देखती थी। एकाएक एक डोंगी खूँटे से बँधी हुई देख पड़ी। रानी ने उसे ध्यान से देखा तो मल्लाह सोया हुआ था। उसे जगाना काल को जगाना था। वह तुरन्त रस्सी खोलकर नाव पर सवार हो गयी। नाव धीरे-धीरे धार के सहारे

चलने लगी, शोक और अन्धकार-मय स्वप्न की भाँति जो ध्यान की तरंगों के साथ बहा चला जाता हो। नाव के हिलने से मल्लाह चौंककर उठ बैठा। आँखें मलते मलते उसने सामने देखा तो पटरे पर एक स्त्री हाथ में डाँड लिये बैठी है। घबराकर पूछा—तू कौन है रे? नाव कहाँ लिये जाती है? रानी हँस पड़ी। भय के अन्त को साहस कहते हैं। बोली—सच बताऊँ या झूठ?

मल्लाह कुछ भयभीत-सा होकर बोला—सच बताया जाय।

रानी बोली—अच्छा तो सुनो। मैं लाहौर की रानी चन्द्रकुँवरि हूँ। इसी किले में कैदी थी। आज भागी जाती हूँ। मुझे जल्दी बनारस पहुँचा दे। तुझे निहाल कर दूँगी और यदि शरारत करेगा तो देख, इस कटार से सिर काट दूँगी। सबेरा होने से पहले मुझे बनारस पहुँचना चाहिए।

यह धमकी काम कर गयी। मल्लाह ने विनीत भाव से अपना कम्बल बिछा दिया और तेजी से डाँड चलाने लगा। किनारे के वृक्ष और ऊपर जगमगाते हुए तारे साथ-साथ दौड़ने लगे।

(३)

प्रातःकाल चुनार के दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य अचम्भित और व्याकुल था। सन्तरी, चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचे किये दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे। अन्वेषण हो रहा था; परन्तु कुछ पता न चलता था।

उधर रानी बनारस पहुँची। परन्तु वहाँ पहले से ही पुलिस और सेना का जाल बिछा हुआ था। नगर के नाके बन्द थे। रानी का पता लगानेवाले के लिए एक बहुमूल्य पारितोषिक की सूचना दी गयी थी।

बन्दीगृह से निकलकर रानी को ज्ञात हो गया कि वह और दृढ़ कारागार में है। दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य उसका आज्ञाकारी था। दुर्ग का स्वामी भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। किन्तु आज स्वतंत्र होकर भी उसके ओंठ बन्द थे। उसे सभी स्थानों में शत्रु देख पड़ते थे। पंखरहित पक्षी को पिंजरे के कोने में ही सुख है।

पुलिस के अफसर प्रत्येक आने-जानेवालों को ध्यान से देखते थे, किन्तु उस भिखारिनी की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था, जो एक फटी हुई साड़ी पहने, यात्रियों के पीछे-पीछे धीरे-धीरे, सिर झुकाये गङ्गा की ओर चली आ रही

(२)

इसी प्रकार रोते-रोते रानी की आँखें लग गयीं। उसका प्यारा, कलेजे का टुकड़ा कुँवर दिलीपसिंह, जिसमें उसके प्राण बसते थे, उदास मुख आकर खड़ा हो गया। जैसे गाय दिन-भर जगलों में रहने के पश्चात् संध्या को घर आती है और अपने बछड़े को देखते ही प्रेम और उमग से मतवाली होकर स्तनों में दूध भरे, पूँछ उठाये, दौड़ती है, उसी भाँति चन्द्रकुँवरि अपने दोनों हाथ फैलाये अपने प्यारे कुँवर को छाती से लपटाने के लिए दौड़ी। परन्तु आँखें खुल गयीं और जीवन की आशाओं की भाँति वह स्वप्न विनष्ट हो गया। रानी ने गगा की ओर देखा और कहा—मुझे भी अपने साथ लेती चलो। इसके बाद रानी तुरन्त छत से उतरी। कमरे में एक लालटेन जल रही थी। उसके उजेले में उसने एक मैली साड़ी पहनी, गहने उतार दिये, रत्नों के एक छोटे से बक्स को और एक तीव्र कटार को कमर में रखा। जिस समय वह बाहर निकली, नैराश्यपूर्ण साहस की मूर्ति थी।

सन्तरी ने पुकारा—कौन ? रानी ने उत्तर दिया—मैं हूँ झगी।

'कहाँ जाता है ?'

'गगाजल लाऊँगी। सुराही टूट गयी है, रानीजी पानी माँग रही हैं।'

सन्तरी कुछ समीप आकर बोला—चल, मैं भी तेरे साथ चलता हूँ, जरा रुक जा।

झगी बोली—मेरे साथ मत आओ। रानी कोठे पर हैं। देख लेंगी।

सन्तरी को धोखा देकर चन्द्रकुँवरि गुप्त द्वार से होती हुई अँधेरे में काँटों से उलझती, चट्टानों से टकराती, गंगा के किनारे जा पहुँची।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी। गगाजी में संतोषदायिनी शान्ति विराज रही थी। तरगें तारों को गोद में लिए सो रही थीं। चारों ओर सन्नाटा था।

रानी नदी के किनारे किनारे चली जाती थी और मुड़-मुड़कर पीछे देखती थी। एकाएक एक डोंगी खूँटे से बँधी हुई देख पड़ी। रानी ने उसे ध्यान से देखा तो मल्लाह सोया हुआ था। उसे जगाना काल को जगाना था। वह तुरन्त रस्सी खोलकर नाव पर सवार हो गयी। नाव धीरे-धीरे धार के सहारे

चलने लगी, शोक और अन्धकार-मय स्वप्न की भाँति जो ध्यान की तरंगों के साथ बहा चला जाता हो। नाव के हिलने से मल्लाह चौंककर उठ बैठा। आँखें मलते मलते उसने सामने देखा तो पटरे पर एक स्त्री हाथ में डाँड़ लिये बैठी है। घबराकर पूछा—तू कौन है रे? नाव कहाँ लिये जाती है? रानी हँस पड़ी। भय के अन्त को साहस कहते हैं। बोली—सच बताऊँ या झूठ?

मल्लाह कुछ भयभीत-सा होकर बोला—सच बताया जाय।

रानी बोली—अच्छा तो सुनो। मैं लाहोर की रानी चन्द्रकुँवरि हूँ। इसी किले में कैदी थी। आज भागी जाती हूँ। मुझे जल्दी बनारस पहुँचा दे। तुझे निहाल कर दूँगी और यदि शरारत करेगा तो देख, इस कटार से सिर काट दूँगी। सवेरा होने से पहले मुझे बनारस पहुँचना चाहिए।

यह धमकी काम कर गयी। मल्लाह ने विनीत भाव से अपना कम्बल बिछा दिया और तेजी से डाँड़ चलाने लगा। किनारे के वृक्ष और ऊपर जगमगाते हुए तारे साथ-साथ दौड़ने लगे।

(३)

प्रातःकाल चुनार के दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य अचम्भित और व्याकुल था। सन्तरी, चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचे किये दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे। अन्वेषण हो रहा था; परन्तु कुछ पता न चलता था।

उधर रानी बनारस पहुँची। परन्तु वहाँ पहले से ही पुलिस और सेना का जाल बिछा हुआ था। नगर के नाके बन्द थे। रानी का पता लगानेवाले के लिए एक बहुमूल्य पारितोषिक की सूचना दी गयी थी।

बन्दीगृह से निकलकर रानी को ज्ञात हो गया कि वह और दृढ़ कारागार में है। दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य उसका आज्ञाकारी था। दुर्ग का स्वामी भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। किन्तु आज स्वतंत्र होकर भी उसके ओठ बन्द थे। उसे सभी स्थानों में शत्रु देख पड़ते थे। पंखरहित पक्षी को पिंजरे के कोने में ही सुख है।

पुलिस के अफसर प्रत्येक आने-जानेवालों को ध्यान से देखते थे, किन्तु उस भिखारिनी की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था, जो एक फटी हुई साड़ी पहने, यात्रियों के पीछे-पीछे धीरे-धीरे, सिर झुकाये गङ्गा की ओर चली आ रही

है। न वह चौंकती है, न हिचकती है, न घबराती है। इस भिखारिनी की नसों में रानी का रक्त है।

यहाँ से भिखारिनी ने अयोध्या की राह ली। वह दिन-भर विकट मार्गों में चलती और रात को किसी सुनसान स्थान पर लेट रहती थी। मुख पीला पड़ गया था। पैरों में छाले थे। फूल-सा बदन कुम्हला गया था।

वह प्रायः गाँव में लाहौर की रानी के चरचे सुनती। कभी कभी पुलिस के आदमी भी उसे रानी की टोह में दत्तचित्त देख पड़ते। उन्हें देखते ही भिखारिनी के हृदय में सोई हुई रानी जाग उठती। वह आँखें उठाकर उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती और शोक तथा क्रोध से उसकी आँखें जलने लगतीं। एक दिन अयोध्या के समीप पहुँचकर रानी एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई थी। उसने कमर से कटार निकालकर सामने रख दी थी। वह सोच रही थी कि कहाँ जाऊँ? मेरी यात्रा का अन्त कहाँ है? क्या इस संसार में अब मेरे लिए कहीं ठिकाना नहीं है? वहाँ से थोड़ी दूर पर आमों का एक बहुत बड़ा बाग था। उसमें बड़े-बड़े डेरे और तम्बू गड़े हुए थे। कई एक सन्तरी चमकीली वर्दियाँ पहने टहल रहे थे, कई घोड़े बँधे हुए थे। रानी ने इस राजसी ठाट बाट को शोक की दृष्टि से देखा। एक बार वह भी काश्मीर गयी थीं। उसका पड़ाव इससे कहीं बढ़कर था।

बैठे बैठे सन्ध्या हो गयी। रानी ने वहीं रात काटना निश्चय किया। इतने में एक बूढ़ा मनुष्य टहलता हुआ आया और उसके समीप खड़ा हो गया। ऐंठी हुई दाढ़ी थी, शरीर में सटी हुई चपकन थी, कमर में तलवार लटक रही थी। इस मनुष्य को देखते ही रानी ने तुरन्त कटार उठाकर कमर में खोंस ली। सिपाही ने उसे तीव्र दृष्टि से देखकर पूछा—बेटी, कहाँ से आती हो?

रानी ने कहा—बहुत दूर से।

'कहाँ जाओगी?'

'कह नहीं कह सकती, बहुत दूर।'

सिपाही ने रानी की ओर फिर ध्यान से देखा और कहा—जरा अपनी कटार मुझे दिखाओ। रानी कटार सँभालकर खड़ी हो गयी और तीव्र स्वर से बोली—मित्र हो या शत्रु? ठाकुर ने कहा—मित्र। सिपाही के बातचीत करने

के ढंग और चेहरे में कुछ ऐसी विलक्षणता थी जिससे रानी को विवश होकर विश्वास करना पड़ा।

वह बोली—विश्वासघात न करना। यह देखो।

ठाकुर ने कटार हाथ में ली। उसको उलट-पुलटकर देखा और बड़े नम्र भाव से उसे आँखों से लगाया। तब रानी के आगे विनीत भाव से सिर झुकाकर वह बोला—महारानी चन्द्रकुँवरि?

रानी ने करुण स्वर से कहा—नहीं, अनाथ भिखारिनी। तुम कौन हो?

सिपाही ने उत्तर दिया—आपका एक सेवक!

रानी ने उसकी ओर निराश दृष्टि से देखा और कहा—दुर्भाग्य के सिवा इस संसार में मेरा कोई नहीं।

सिपाही ने कहा—महारानीजी, ऐसा न कहिए। पंजाब के सिंह की महारानी के वचन पर अब भी सैकड़ों सिर झुक सकते हैं। देश में ऐसे लोग विद्यमान हैं, जिन्होंने आपका नमक खाया है और उसे भूले नहीं है।

रानी—अब इसकी इच्छा नहीं। केवल एक शान्त-स्थान चाहती हूँ, जहाँ पर एक कुटी के सिवा और कुछ न हो।

सिपाही—ऐसा स्थान पहाड़ों में ही मिल सकता है। हिमालय की गोद में चलिए, वहीं आप उपद्रव से बच सकती हैं।

रानी (आश्चर्य से)—शत्रुओं में जाऊँ? नेपाल कब हमारा मित्र रहा है?

सिपाही—राणा जगबहादुर दृढ़प्रतिज्ञ राजपूत हैं।

रानी—किन्तु वही जगबहादुर तो है जो अभी-अभी हमारे विरुद्ध लार्ड डलहौजी को सहायता देने पर उद्यत था?

सिपाही (कुछ लज्जित-सा होकर)—तब आप महारानी चन्द्रकुँवरि थीं, आज आप भिखारिनी हैं। ऐश्वर्य के द्वेषी और शत्रु चारों ओर होते हैं। लोग जलती हुई आग को पानी से बुझाते हैं, पर राख माथे पर चढ़ाई जाती है। आप जरा भी सोच-विचार न करें, नेपाल में अभी धर्म का लोप नहीं हुआ है। आप भय-त्याग करें और चलें। देखिए, वह आपको किस भाँति सिर और आँखों पर बिठाता है।

रानी ने रात इसी वृक्ष की छाया में काटी। सिपाही भी वहीं सोया। प्रातःकाल वहाँ दो तीव्रगामी घोड़े देख पड़े। एक पर सिपाही सवार था और दूसरे पर एक अत्यन्त रूपवान् युवक। यह रानी चन्द्रकुँवरि थी, जो अपने रक्षा-स्थान की खोज में नैपाल जाती थी। कुछ देर पीछे—यह पड़ाव किसका है? सिपाही ने कहा—राणा जगबहादुर का। वे तीर्थयात्रा करने आये हैं किन्तु हमसे पहले पहुँच जायँगे।

रानी—तुमने उनसे मुझे यहीं क्यों न मिला दिया। उनका हार्दिक भाव प्रकट हो जाता।

सिपाही—यहाँ उनसे मिलना असम्भव था। आप जासूसों की दृष्टि से न बच सकतीं।

उस समय यात्रा करना प्राण को अर्पण कर देना था। दोनों यात्रियों को अनेकों वार डाकुओं का सामना करना पड़ा। उस समय रानी की वीरता, उसका युद्ध-कौशल तथा फुर्ती देखकर बूढ़ा सिपाही दाँतों तले अँगुली दबाता था। कभी उनकी तलवार काम कर जाती और कभी घोड़े की तेज चाल।

यात्रा बड़ी लम्बी थी। जेठ का महीना मार्ग में ही समाप्त हो गया। वर्षा ऋतु आयी। आकाश में मेघ-माला छाने लगी। सूखी नदियाँ उतरा चलीं। पहाड़ी नाले गरजने लगे। न नदियों में नाव, न नालों पर घाट, किन्तु घोड़े सधे हुए थे। स्वयं पानी में उतर जाते और डूबते-उतराते, बहते, भँवर खाते पार जा पहुँचते। एक बार बिच्छू ने कछुए की पीठ पर नदी की यात्रा की थी। यह यात्रा उससे कम भयानक न थी।

कहीं ऊँचे-ऊँचे साखू और महुए के जंगल थे और कहीं हरे-भरे जामुन के वन। उनकी गोद में हाथियों और हिरनों के झुण्ड कलोलें कर रहे थे। धान की क्यारियाँ पानी से भरी हुई थीं। किसानों की स्त्रियाँ धान रोपती थीं और सुहावने गीत गाती थीं। कहीं उन मनोहारी ध्वनियों के बीच में, खेत की मेड़ों पर छाते की छाया में बैठे हुए जमींदारों के कठोर शब्द सुनाई देते थे।

इसी प्रकार यात्रा के कष्ट सहते, अनेकानेक विचित्र दृश्य देखते दोनों यात्री तराई पार करके नैपाल की भूमि में प्रविष्ट हुए।

(५)

प्रातःकाल का सुहावना समय था। नैपाल के महाराजा सुरेन्द्रविक्रमसिंह का दरबार सजा हुआ था। राज्य के प्रतिष्ठित मन्त्री अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। नेपाल ने एक बड़ी लड़ाई के पश्चात् तिब्बत पर विजय पायी थी। इस समय सन्धि की शर्तों पर विवाद छिड़ा था। कोई युद्ध-व्यय का इच्छुक था, कोई राज्य विस्तार का। कोई-कोई महाशय वार्षिक कर पर ज़ोर दे रहे थे। केवल राणा जंगबहादुर के आने की देर थी। वे कई महीनों के देशाटन के पश्चात् आज ही रात को लौटे थे और यह प्रसंग, जो उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, अब मन्त्रि-सभा में उपस्थित किया गया था। तिब्बत के यात्री, आशा और भय की दशा में, प्रधान मन्त्री के मुख से अन्तिम निर्णय सुनने को उत्सुक हो रहे थे। नियत समय पर चोपदार ने राणा के आगमन की सूचना दी। दरबार के लोग उन्हें सम्मान देने के लिए खड़े हो गये। महाराज को प्रणाम करने के पश्चात् ये अपने सुसज्जित आसन पर बैठ गये। महाराज ने कहा—राणाजी, आप सन्धि के लिए कौन प्रस्ताव करना चाहते थे?

राणा ने नम्र भाव से कहा—मेरी अल्प बुद्धि में तो इस समय कठोरता का व्यवहार करना अनुचित है। शोकाकुल शत्रु के साथ दयालुता का आचरण करना सर्वदा हमारा उद्देश्य रहा है। क्या इस अवसर पर स्वार्थ के मोह में हम अपने बहुमूल्य उद्देश्य को भूल जायँगे? हम ऐसी सन्धि चाहते हैं जो हमारे हृदय को एक कर दे। यदि तिब्बत का दरबार हमें व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान करने को कटिबद्ध हो, तो हम सन्धि करने के लिए सर्वथा उद्यत हैं।

मन्त्रि-मण्डल में विवाद आरम्भ हुआ। सबकी सम्मति इस दयालुता के अनुसार न थी; किन्तु महाराज ने राणा का समर्थन किया। यद्यपि अधिकांश सदस्यों को शत्रु के साथ ऐसी नरमी पसन्द न थी, तथापि महाराज के विपक्ष में बोलने का किसी को साहस न हुआ।

यात्रियों के चले जाने के पश्चात् राणा जंगबहादुर ने खड़े होकर कहा—सभा के उपस्थित सज्जनो, आज नैपाल के इतिहास में एक नयी घटना होनेवाली है, जिसे मैं आपकी जातीय नीतिमत्ता की परीक्षा समझता हूँ। इसमें सफल होना आपके ही कर्तव्य पर निर्भर है। आज राजसभा में आते समय

मुझे यह आवेदनपत्र मिला है, जिसे मैं आप सज्जनों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। निवेदक ने तुलसीदास की केवल यह चौपाई लिख दी है—

"आपत-काल परखिए चारी।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥"

महाराज ने पूछा—यह पत्र किसने भेजा है?

'एक भिखारिनी ने।'

'भिखारिनी कौन है?'

'महारानी चन्द्रकुँवरि।'

कड़बड़ खत्री ने आश्चर्य से पूछा—जो हमारी मित्र अँगरेज सरकार के विरुद्ध होकर भाग आई है?

राणा जगबहादुर ने लज्जित होकर कहा—जी हाँ। यद्यपि हम इसी विचार को दूसरे शब्दों में प्रकट कर सकते हैं।

कड़बड़ खत्री—अँगरेज़ों से हमारी मित्रता है और मित्र के शत्रु की सहायता करना मित्रता की नीति के विरुद्ध है।

जनरल शमशेर बहादुर—ऐसी दशा में इस बात का भय है कि अँगरेजी सरकार से हमारे सम्बन्ध टूट न जायँ।

राजकुमार रणवीरसिंह—हम यह मानते हैं कि अतिथि-सत्कार हमारा धर्म है, किन्तु उसी समय तक, जब तक कि हमारे मित्रों को हमारी ओर से शका करने का अवसर न मिले।

इस प्रसग पर यहाँ तक मतभेद तथा वाद-विवाद हुआ कि एक शोर सा मच गया और कई प्रधान यह कहते हुए सुनाई दिये कि महारानी का इस समय आना देश के लिए कदापि मगलकारी नहीं हो सकता।

तब राणा जगबहादुर उठे। उनका मुख लाल हो गया था। उनका सद्विचार क्रोध पर अधिकार जमाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। वे बोले—भाइयों, यदि इस समय मेरी बातें आप लोगों को अत्यन्त कड़ी जान पड़े तो मुझे क्षमा कीजिएगा, क्योंकि अब मुझमें अधिक श्रवण करने की शक्ति नहीं है। अपनी जातीय साहसहीनता का यह लज्जाजनक दृश्य अब मुझसे नहीं देखा जाता। यदि नैपाल के दरबार में इतना भी साहस नहीं कि वह अतिथि-सत्कार और

सहायता की नीति को निभा सके तो मैं इस घटना के सम्बन्ध में सब प्रकार का भार अपने ऊपर लेता हूँ। दरबार अपने को इस विषय में निर्दोष समझे और इसकी सर्वसाधारण में घोषणा कर दे।

कड़बड़ खत्री गर्म होकर बोले—केवल यह घोषणा देश को भय से रक्षित नहीं कर सकती।

राणा जंगबहादुर ने क्रोध से ओठ चबा लिया, किन्तु सँभलकर कहा—देश का शासन-भार अपने ऊपर लेनेवालों को ऐसी अवस्थाएँ अनिवार्य हैं। हम उन नियमों से, जिन्हें पालन करना हमारा कर्त्तव्य है, मुँह नहीं मोड़ सकते। अपनी शरण में आये हुओं का हाथ पकड़ना—उनकी रक्षा करना राजपूतों का धर्म है। हमारे पूर्व-पुरुष सदा इस नियम पर—धर्म पर प्राण देने को उद्यत रहते थे। अपने माने हुए धर्म को तोड़ना एक स्वतंत्र जाति के लिए लज्जास्पद है। अँगरेज हमारे मित्र हैं और अत्यन्त हर्ष का विषय है कि बुद्धिशाली मित्र हैं। महारानी चन्द्रकुँवरि को अपनी दृष्टि में रखने से उसका उद्देश्य केवल यह था कि उपद्रवी लोगों के गिरोह का कोई केन्द्र शेष न रहे। यदि उनका यह उद्देश्य भंग न हो, तो हमारी ओर से शंका होने का न उन्हें कोई अवसर है और न हमें उनसे लज्जित होने की कोई आवश्यकता।

कड़बड़—महारानी चन्द्रकुँवरि यहाँ किस प्रयोजन से आई हैं?

राणा जंगबहादुर—केवल एक शान्ति-प्रिय सुख स्थान की खोज में, जहाँ उन्हें अपनी दुरवस्था की चिन्ता से मुक्त होने का अवसर मिले। वह ऐश्वर्यशाली रानी जो रंगमहलों में सुख-विलास करती थीं, जिन्हें फूलों की सेज पर भी चैन न मिलता था—आज सैकड़ों कोस से अनेक प्रकार के कष्ट सहन करती, नदी नाले, पहाड़-जंगल छानती यहाँ केवल एक रक्षित स्थान की खोज में आई हैं। उमड़ी हुई नदियाँ और उबलते हुए नाले, बरसात के दिन। इन दुःखों को आप लोग जानते हैं। और यह सब उसी एक रक्षित स्थान के लिए, उसी एक भूमि के टुकड़े की आशा में। किन्तु हम ऐसे स्थान-हीन हैं कि उनकी यह अभिलाषा भी पूरी नहीं कर सकते। उचित तो यह था कि उतनी-सी भूमि के बदले हम अपना हृदय फैला देते। सोचिए, कितने अभिमान की बात है कि एक आपदा में फँसी हुई रानी अपने दुःख के दिनों में जिस देश को

याद करती है, यह वही पवित्र देश है। महारानी चन्द्रकुँवरि को हमारे इस अभयप्रद स्थान पर—हमारी शरणागतों की रक्षा पर पूरा भरोसा था और वही विश्वास उन्हें यहाँ तक लाया है। इसी आशा पर कि पशुपतिनाथ की शरण में मुझको शान्ति मिलेगी, वह यहाँ तक आई हैं। आपको अधिकार है, चाहे उनकी आशा पूर्ण करें या धूल में मिला दें। चाहे रक्षणता के—शरणागतों के साथ सदाचरण के—नियमों को निभाकर इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम छोड़ जायँ, या जातीयता तथा सदाचार सम्बन्धी नियमों को मिटाकर स्वयं अपने को पतित समझें। मुझे विश्वास नहीं है कि यहाँ एक भी मनुष्य ऐसा निरभिमान है कि जो इस अवसर पर शरणागत-पालन धर्म को विस्मृत करके अपना सिर ऊँचा कर सके। अब मैं आपके अन्तिम निपटारे की प्रतीक्षा करता हूँ। कहिए, आप अपनी जाति और देश का नाम उज्ज्वल करेंगे या सर्वदा के लिए अपने माथे पर अपयश का टीका लगायेंगे?

राजकुमार ने उमग से कहा—हम महारानी के चरणों-तले आँखें बिछायेंगे।

कप्तान विक्रमसिंह बोले—हम राजपूत हैं और अपने धर्म का निर्वाह करेंगे।

जनरल वनवीरसिंह—हम उनको ऐसी धूम से लायेंगे कि ससार चकित हो जायगा।

राणा जगवहादुर ने कहा—मैं अपने मित्र कड़वड़ खत्री के मुख से उनका फैसला सुनना चाहता हूँ।

कड़वड़ खत्री एक प्रभावशाली पुरुष थे, और मन्त्रिमंडल में वे राणा जगबहादुर की विरुद्ध मण्डली के प्रधान थे। वे लज्जा-भरे शब्दों में बोले—यद्यपि मैं महारानी के आगमन को भयरहित नहीं समझता, किन्तु इस अवसर पर हमारा धर्म यही है कि हम महारानी को आश्रय दें। धर्म से मुँह मोड़ना किसी जाति के लिए मान का कारण नहीं हो सकता।

कई ध्वनियों ने उमग-भरे शब्दों का समर्थन किया।

महाराज सुरेन्द्रविक्रमसिंह के इस निपटारे पर बधाई देता हूँ। तुमने जाति का नाम रख लिया। पशुपति इस उत्तम कार्य में तुम्हारी सहायता करें।

सभा विसर्जित हुई। दुर्ग से तोपें छूटने लगीं। नगर-भर में खबर गूँज उठी

कि पंजाब की महारानी चन्द्रकुँवरि का शुभागमन हुआ है। जनरल रणवीरसिंह और जनरल समरधीरसिंह बहादुर ५००० सेना के साथ महारानी की अगवानी के लिए चले।

अतिथि-भवन की सजावट होने लगी। बाज़ार अनेक भाँति की उत्तम सामग्रियों से सज गये।

ऐश्वर्य की प्रतिष्ठा व सम्मान सब कहीं होता है, किन्तु किसी ने भिखारिनी का ऐसा सम्मान देखा है? सेनाएँ बैंड बजाती और पताका फहराती हुई एक उमड़ी नदी की भाँति जाती थीं। सारे नगर में आनन्द ही आनन्द था। दोनों ओर सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजे दर्शकों का समूह खड़ा था। सेना के कमांडर आगे-आगे घोड़ों पर सवार थे। सबके आगे राणा जगबहादुर जातीय अभिमान के मद मे लीन, अपने सुवर्णखचित हौदे में बैठे हुए थे। यह उदारता का एक पवित्र दृश्य था। धर्मशाला के द्वार पर वह जुलूस रुका। राणा हाथी से उतरे। महारानी चन्द्रकुँवरि कोठरी से बाहर निकल आईं। राणा ने झुककर वन्दना की। रानी उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगीं। यह वही उनका मित्र बूढ़ा सिपाही था।

आँखें भर आईं। मुसकराईं। खिले हुए फूल पर से ओस की बूँदें टपकीं। रानी बोलीं—मेरे बूढ़े ठाकुर, मेरी नाव पार लगानेवाले, किस भाँति तुम्हारा गुण गाऊँ?

राणा ने सिर झुकाकर कहा—आपके चरणारविन्द से हमारे भाग्य उदय हो गये।

(६)

नैपाल की राजसभा ने पच्चीस हज़ार रुपये से महारानी के लिए एक उत्तम भवन बनवा दिया और उनके लिए दस हज़ार रुपया मासिक नियत कर दिया।

वह भवन आज तक वर्तमान है और नैपाल की शरणागतप्रियता तथा प्रणपालन-तत्परता का स्मारक है। पंजाब की रानी को लोग आज तक याद करते हैं।

यह वह सीढ़ी है जिससे जातियाँ यश के सुनहले शिखर पर पहुँचती हैं।

ये ही घटनाएँ हैं, जिनसे जातीय-इतिहास प्रकाश और महत्व को प्राप्त होता है।

पोलिटिकल रेजीडेंट ने गवर्नमेंट को रिपोर्ट की। इस बात की शंका थी कि गवर्नमेंट ऑफ् इण्डिया और नैपाल के बीच कुछ खिंचाव हो जाय, किन्तु गवर्नमेंट को राणा जंगबहादुर पर पूर्ण विश्वास था। और जब नैपाल की राजसभा ने विश्वास और सन्तोष दिलाया कि महारानी चन्द्रकुँवरि को किसी शत्रुभाव का अवसर न दिया जायगा, तो भारत सरकार को सन्तोष हो गया। इस घटना को भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में 'जुगुनू की चमक' कहना चाहिए।

— —

गृह-दाह

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपये ख़र्च किये थे। उसका विद्यारम्भ-संस्कार भी ख़ूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता था। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता। दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले पतले लाल अधर, भरे हुए पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दें, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुखचन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश पत्नी को लेकर गंगास्नान करने गये। नदी ख़ूब चढ़ी हुई थी; मानों अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर जलक्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अञ्जुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब निकलो, सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?

देवप्रकाश—और जो कहीं पैर फिसल जायँ?

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा!

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गयी। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना; किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जलक्रीड़ा नहीं, मृत्युक्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया और फिसल गयी। मुँह से एक चीख़ निकली; दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे और फिर जलमग्न हो गये। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गयी। देवप्रकाश खड़े तौलिया से देह पोंछ रहे थे। तुरंत पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा।

दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला, पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गयी। मल्लाह ने बार-बार गोते मारे पर लाश हाथ न आयी। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आये। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसक को न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ हैं।

देव०—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासाभाव से देखा और आशय समझ गया। अम्माँ-अम्माँ कहकर रोने लगा।

(२)

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सम्हालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंखहीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकान्त से प्रेम हो गया। अकेला बैठा रहता। वृक्षों में उसे कुछ कुछ सहानुभूति का अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे, माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में भी वह प्रेम ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नयी माता आनेवाली हैं। दौड़ा पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नयी माता आयेंगी।

पिता ने कहा—हाँ बेटा, वे आकर तुम्हें प्यार करेंगी?

सत्य०—क्या मेरी ही माँ स्वर्ग से आ जायँगी?

देव०—हाँ, वही माता आ जायँगी।

सत्य०—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्नमन रहने लगा। अम्माँ आयेंगी! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी! अब मैं उन्हें कभी दिक न करूँगा, कभी जिद न करूँगा, उन्हें अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नयी अम्माँ आयेँगी। बारात में वह भी गया। नये-नये कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया और उसे गोद में लेकर एक अशरफी दी। वहीं उसे नयी माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—बेटी, कैसा सुन्दर बालक है! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नयी माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषण से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनों हाथों से उसका अंचल पकड़कर कहा—अम्माँ!

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय! वह ललना जो 'देवप्रिया' नाम से सम्बोधित होती थी, यह उत्तर दायित्व, त्याग और क्षमा का सम्बोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुखस्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायुतरंगों में आन्दोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बालस्वप्न भी भंग हो गया। आँखें डबडबा गयीं। नानी ने कहा—बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्माँ कह दिया तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गयी?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

(२)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है? इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पण्डित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती; किन्तु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया, और प्रसवकाल ज्यों ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश ख़ूब उछला-कूदा और सौरगृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को

विमता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोषस्वर में कहा—खबरदार, इसे मत छूना नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी !

बालक उलटे पाँव लौट आया और कोठे की छत पर जाकर खूब रोया। कितना सुन्दर बच्चा है ! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मजा आता ! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर उन्होंने क्यों मुझे झिड़क दिया ? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और ही है।

एक दिन शिशु सो रहा था। उसका नाम ज्ञानप्रकाश रखा गया था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि गोद में लेकर प्यार करूँ, पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गयी। दूर ही से डाँटा, हट जा वहाँ से !

सत्यप्रकाश माता को दीननेत्रों से देखता हुआ बाहर निकल आया। सध्या समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?

सत्य०—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्माँ खिलाने को नहीं देतीं।

देव०—झूठ बोलते हो। आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य०—जी नहीं। मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।

देव०—झूस बोलता है।

सत्य०—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाये। पहिली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध ! इसने उसके जीवन की कायापलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता। पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता ; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहिले अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि था।

उसकी सफ़ाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहिने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था। बाजार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता, गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर भी दुर्बल हो गया। चेहरे की कान्ति गायब हो गयी। देवप्रकाश को अब आये-दिन उसकी शरारतों के उलाहने मिलने लगे और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर करके दौड़ते। ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साथे से भी बचाती रहती थी। दोनों लड़कों में कितना अन्तर था! एक साफ-सुथरा, सुन्दर कपड़े पहिने शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला। देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए, मुँह-फट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा था, प्रेम से प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नववृक्ष था, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती थी, दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती थी।

(५)

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह अपने भाई के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता था। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी माँ से वाद-विवाद कर बैठता। भैया की अचकन फट गयी है, आप नयी अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं? माँ उत्तर देती—उसके लिए वही अचकन अच्छी है। अभी क्या अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेबखर्च से

बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता था। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनन्द का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचारने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिए उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रखा है कि मैंने तुम्हारी जिन्दगी-भर का ठेका ले रखा है?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपये हो गये हैं। जाता हूँ तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

देव०—फीस क्यों बाकी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?

सत्य०—आये दिन चन्दे लगा करते हैं, फीस के रुपये चन्दे में दे दिये।

देव०—और जुर्माना क्यों हुआ?

सत्य०—फीस न देने के कारण।

देव०—तुमने चन्दा क्यों दिया?

सत्य०—ज्ञानू ने चन्दा दिया तो मैंने भी दिया।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो?

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव०—क्यों, यह कहते शर्म आती है?

सत्य०—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव०—अच्छा, तो आप मेरी मानरक्षा करते हैं। यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मुझे मंजूर नहीं है। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन तीन साल पढ़ाऊँ और ऊपर से तुम्हारे ख़र्च के लिए भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञान बाबू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफा नीचे है। तुम इस साल जरूर ही फेल होओगे और वह जरूर ही पास होकर अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी?

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है?

सत्य०—भीख माँगना।

देव०—तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।

देवप्रिया भी आ गयी। बोली—शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है!

सत्य०—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया—ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है तो भीख ही माँगे।

(६)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गयी थी। इतनी बातें सुनने के बाद अब उसे उस घर में रहना असह्य हो गया। जब हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता था। अब हाथ-पाँव हो गये थे, उस बंधन में क्यों रहता। आत्माभिमान आशा की भाँति बहुत चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबाई; छोटा-सा बेग हाथ में लिया और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जायँ कि ज्ञानू आ गया और उसे कहीं जाने को तैयार देखकर बोला—कहाँ जाते हो भैया?

सत्य०—जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानू०—मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूँ।

सत्य०—तो फिर मैं तुमसे छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञानू०—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं है?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो

नहीं चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा और पेट पालता रहूँगा। और किस लायक हूँ ?

ज्ञानू०—तुमसे अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं ? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।

ज्ञानू०—तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते ?

सत्य०—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ ? जब कोई परवा नहीं करता तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से !

ज्ञानू०—मुझे भूल तो न जाओगे ? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूँगा, मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञानू०—(रोते रोते) मुझे न जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है !

सत्य०—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी न थी और वह कलकत्ते जा रहा था।

(७)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तान्त लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में किले बना सकते हैं, धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्टसाध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहिले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बेग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहर में जीविका का प्रश्न कठिन भी है और सरल भी है। सरल है उनके लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं, कठिन है उनके लिए, जो कलम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मजदूरी करना नीच काम समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रखा। बाद में शहर के मुख्य स्थानों का निरीक्षण करके एक डाकघर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया और अपढ़ मजदूरों की चिट्ठियाँ,

मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहिले कई दिन तो उसको इतने पैसे भी न मिले कि भर-पेट भोजन करता; लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मजदूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो दो तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मज़दूरों को मुग्ध कर देता था। एक सन्तुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। जमीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेमयुक्त बातें न भूलतीं। अन्धकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अन्तिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया तो उसके आनन्द की सीमा न रही। ज्ञान् मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिन्ता हुई कि ज्ञान के लिए कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब कबाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक भी पैदा हुआ जो कुछ पाता, उड़ा देता। बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिन्ता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने

निश्चय किया कि एक अच्छी सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा! अम्माँ और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सवेरे काम करने चला जाता और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की सख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीने में उसके पास ५०) एकत्र हो गये और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था मानों किसी निस्सन्तान पुरुष के बालक हुआ हो।

(८)

'घर' कितनी कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहिन, सखी सहेली के प्रेम की याद दिलाता है, प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन मात्र को स्थिर रखता है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाता है। यही वह मण्डप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर कहाँ था? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी?—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल बच्चों की चिन्ता?—नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका परितोषिक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफायत करता था, उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता था और धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता था। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वे एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है, इसलिए अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तबसे

सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्रलेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इसी तरह पाँच वर्ष बीत गये। रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(६)

सन्ध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुन्दर युवक था। बालविवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभमुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो!

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहिले 'नहीं' करते हैं।

देव०—ज्ञानू का इन्कार केवल संकोच का इन्कार नहीं है, वह सिद्धान्त का इन्कार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलावे, वहाँ कोई रखेली रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है!

देव—(झुँझलाकर) रखेली रख ली होती तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता और न वे चीज़ें ही देता, जो पहिले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है! चाहे वह जान निकालकर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी!

देवप्रिया नाराज होकर चली गयी। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे कि पहिले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है; किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र

मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि .

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क ! माता पिता का धर्म है, इसलिए कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे की परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह, पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञान०—मेरी सूरत से घृणा हो गयी !

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे, रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।

देव०—क्यों व्यर्थ में ऐसे कटुवचन बोलती हो !

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा। देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया और पत्नी के क्रोध को शान्त करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट फूटकर रो रही थी और बार बार कहती थी, मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अन्त में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटुवचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चाण्डाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मन्त्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा, नहीं तो मेरा ज्ञानू जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता !

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा ! अभी गुस्से में अनाप-सनाप बक गया है। जरा शान्त हो जायगा तो मैं समझाकर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया, कहा—तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी, किन्तु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' करके 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञान-

प्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ता न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीन कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे फाड़े खाता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी भरकर कोसती! मगर दोनों भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेन्शन ले ली थी और प्रायः धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दरी है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कहीं विदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान्, ऐसा भी कोई दिन आयेगा कि मैं अपनी बहू का मुखचन्द्र देखूँगी, उसके बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात दिन ये ही बातें सोचते सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की सी हो गई। आप ही आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती। वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यन्त रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-

ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उसका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा और वह सिर थामकर बैठ गया कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विषयुक्त लेखनी से निकला हुआ जहर का प्याला था, जिसने एक पल में उसे सज्ञाहीन कर दिया। उसकी सारी मर्मान्तक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठडी साँस में समाप्त हो गयी।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आग से पानी हो गयी। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ। मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन का मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ। भगवान्! इसके तुम्हीं साक्षी हो!

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अन्त हुआ। फिर वह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किन्तु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढे ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गयी। उसने दूकान बन्द कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेती और कहती, 'बेटा!' पिताजी सन्ध्या समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते और कहते 'भैया!' माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह गगा-स्नान करने गयी थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में आने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आ जाता, जब उसने नववधू माता को 'अम्माँ' कहकर पुकारता था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अब अपना सिसक सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौरगृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब

माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! फिर ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। अब बिना किसी अपराध के माँ डाँट बताती। पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर तिउरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता और फिर वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्लाकर कहता—इस जीवन का अन्त क्यों नहीं हो जाता!

इस भाँति पड़े पड़े उसे कई दिन हो गये। सन्ध्या हो गयी थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज सुनायी पड़ी। उसने कान लगाकर सुना और चौंक पड़ा। किसी परिचित मनुष्य की आवाज थी। दौड़ा द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनों भाई घर में आये। अन्धकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कण्ठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता था और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा—मैं आजकल बीमार हूँ।

ज्ञानप्रकाश—वह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य०—तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?

ज्ञान०—सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हाँ दी होगी, पत्र दूकान में डाल गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?

ज्ञान०—माताजी का देहान्त हो गया।

सत्य०—अरे! क्या बीमार थीं?

ज्ञान०—जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटुवचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं?

ज्ञान०—हाँ, अभी मरे नहीं हैं।

सत्य०—अरे! क्या बहुत बीमार हैं!

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया, तो वे उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने जोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य०—तब तो घर ही चौपट हो गया!

ज्ञान०—ऐसे घर को अब से बहुत पहिले चौपट हो जाना चाहिए था!

* * * *

तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से विदा होकर चल दिये।

———

धोखा

सतीकुण्ड में खिले हुए कमल वसन्त के धीमे-धीमे झोंकों से लहरा रहे थे और प्रातःकाल की मन्द-मन्द सुनहरी किरणें उनमें मिल-मिलकर मुसकराती थीं। राजकुमारी प्रभा कुण्ड के किनारे हरी-हरी घास पर खड़ी सुन्दर पक्षियों का कलरव सुन रही थी। उसका कनक-वर्ण तन इन्हीं फूलों की भाँति दमक रहा था। मानों प्रभात की साक्षात् सौम्य मूर्ति है, जो भगवान् अंशुमाली के किरणकरों द्वारा निर्मित हुई थी।

प्रभा ने मौलसिरी के वृक्ष पर बैठी हुई एक श्यामा की ओर देखकर कहा—मेरा जी चाहता है कि मैं भी एक चिड़िया होती।

उसकी सहेली उमा ने मुसकराकर पूछा—यह क्यों ?

प्रभा ने कुण्ड की ओर ताकते हुए उत्तर दिया—वृक्ष की हरी-भरी डालियों पर बैठी हुई चहचहाती, मेरे कलरव से बाग बाग गूँज उठता।

उमा ने छेड़कर कहा—नौगढ़ की रानी ऐसी कितने ही पक्षियों का गाना जब चाहें सुन सकती हैं।

प्रभा ने सकुचित होकर कहा—मुझे नौगढ़ की रानी बनने की अभिलाषा नहीं है। मेरे लिए किसी नदी का सुनसान किनारा चाहिए। एक वीणा और ऐसे ही सुन्दर सुहावने पक्षियों की संगति। मधुर ध्वनि में मेरे लिए सारे संसार का ऐश्वर्य भरा हुआ है।

प्रभा का सगीत पर अपरिमित प्रेम था। वह बहुधा ऐसे ही सुख-स्वप्न देखा करती थी। उमा उत्तर देना ही चाहती थी कि इतने में बाहर से किसी के गाने की आवाज आई—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

प्रभा ने एकाग्र मन होकर सुना और अधीर होकर कहा—बहिन, इस वाणी में जादू है। मुझे अब बिना सुने नहीं रहा जाता, इसे भीतर बुला लाओ।

उस पर भी गीत का जादू असर कर रहा था। वह बोली—निःसन्देह ऐसा राग मैंने आजतक नहीं सुना, खिड़की खोलकर बुलाती हूँ।

थोड़ी देर में रागिया भीतर आया—सुन्दर सजीले बदन का नौजवान था। नगे पैर, नंगे सिर, कन्धे पर मृगचर्म, शरीर पर एक गेरुआ वस्त्र, हाथों में एक सितार। मुखारविन्द से तेज छिटक रहा था। उसने दबी हुई दृष्टि से दोनों कोमलागी रमणियों को देखा और सिर झुकाकर बैठ गया।

प्रभा ने झिझकती हुई आँखों से देखा और दृष्टि नीची कर ली। उमा ने कहा—योगीजी, हमारे बड़े भाग्य थे कि आपके दर्शन हुए, हमको भी कोई पद सुनाकर कृतार्थ कीजिए।

योगी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—हम योगी लोग नारायण का भजन करते हैं। ऐसे-ऐसे दरबारों में हम भला क्या गा सकते हैं, पर आपकी इच्छा है तो सुनिए—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति
कहाँ वह प्रीति, कहाँ यह बिछुरन, कहाँ मधुबन की रीति,
कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

योगी का रसीला करुण स्वर, सितार का सुमधुर निनाद, उस पर गीत का माधुर्य, प्रभा को बेसुध किये देता था। इसका रसज्ञ स्वभाव और उसका मधुर रसीला गान, अपूर्व सयोग था। जिस भाँति सितार की ध्वनि गगनमण्डल में प्रतिध्वनित हो रही थी, उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं। वे भावनाएँ जो अब तक शान्त थीं, जाग पड़ीं। हृदय सुख स्वप्न देखने लगा। सतीकुण्ड के कमल तिलिस्म की परियाँ बन-बनकर मँडराते हुए भौंरों से कर जोड़ सजल-नयन हो कहते थे—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

सुर्ख और हरी पत्तियों से लदी हुई डालियाँ सिर झुकाये चहकते हुए पक्षियों से रो-रोकर कहती थीं—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

और राजकुमारी प्रभा का हृदय भी सितार की मस्तानी तान के साथ गूँजता था—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

(२)

प्रभा नघौली के राव देवीचन्द की एकलौती कन्या थी। राव पुराने विचारों के रईस थे। कृष्ण की उपासना में लवलीन रहते थे इसलिए इनके दरबार में दूर-दूर के कलावन्त और गवैये आया करते और इनाम-एकराम पाते थे। रावसाहब को गाने से प्रेम था, वे स्वयं भी इस विद्या में निपुण थे। यद्यपि अब वृद्धावस्था के कारण यह शक्ति निःशेष हो चली थी, पर फिर भी इस विद्या के गूढ़ तत्त्वों के पूर्ण जानकार थे। प्रभा बाल्य-काल से ही इनकी सोहबतों में बैठने लगी। कुछ तो पूर्व-जन्म का संस्कार और कुछ रात-दिन गाने की ही चर्चाओं ने उसे भी इस फन में अनुरक्त कर दिया था। इस समय उसके सौंदर्य की ख़ूब चर्चा थी। रावसाहब ने नौगढ़ के नवयुवक और सुशील राजा हरिश्चन्द्र से उसकी शादी तजवीज की थी। उभय पक्ष में तैयारियाँ हो रही थीं। राजा हरिश्चन्द्र मेयो कालिज अजमेर के विद्यार्थी और नयी रोशनी के भक्त थे। उनकी आकांक्षा थी कि उन्हें एक बार राजकुमारी प्रभा से साक्षात्कार होने और प्रेमालाप करने का अवसर दिया जाये; किन्तु रावसाहब इस प्रथा को दूषित समझते थे।

प्रभा राजा हरिश्चन्द्र के नवीन विचारों की चर्चा सुनकर इस सबन्ध से बहुत संतुष्ट न थी। पर जब से उसने प्रेममय युवा योगी का गाना सुना था, तब से तो वह उसी के ध्यान में डूबी रहती। उमा उसकी सहेली थी। इन दोनों के बीच कोई परदा न था, परन्तु इस भेद को प्रभा ने उससे भी गुप्त रखा। उमा उसके स्वभाव से परिचित थी, ताड़ गयी। परन्तु उसने उपदेश करके इस अग्नि को भड़काना उचित न समझा। उसने सोचा कि थोड़े दिनों में यह अग्नि आप-से-आप शांत हो जायगी। ऐसी लालसाओं का अंत प्रायः इसी तरह हो जाया करता है; किन्तु उसका अनुमान ग़लत सिद्ध हुआ। योगी की वह मोहिनी मूर्ति कभी प्रभा की आँखों से न उतरती, उसका मधुर राग प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करता। उसी कुण्ड के किनारे वह सिर झुकाये सारे दिन बैठी रहती। कल्पना में वही मधुर हृदयग्राही राग सुनाती और वही योगी की मनोहारिणी मूर्ति देखती। कभी-कभी उसे ऐसा भास होता कि बाहर से यह आवाज़ आ रही है। वह चौंक पड़ती और तृष्णा से प्रेरित होकर वाटिका

कहती। उनके सामने वह स्वयं हँसती, उसकी आँखें हँसती और आँखों का काजल हँसता था। किन्तु आह! जब वह अकेली होती, उसका चचल चित्त उड़कर उसी कुण्ड के तट पर जा पहुँचता, कुण्ड का वह नीला-नीला पानी, उस पर तैरते हुए कमल और मौलसरी की वृक्षपक्तियों का सुन्दर दृश्य आँखों के सामने आ जाती। उमा मुसकराती और नजाकत से लचकती हुई आ पहुँचती, तब रसीले योगी की मोहनी छवि आँखों में आ बैठती, और सितार के सुललित सुर गूँजने लगते--

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

तब वह एक दीर्घ निश्श्वास लेकर बैठती और बाहर निकलकर पिंजरे में चहकते हुए पक्षियों के कलरव में शाति प्राप्त करती। इस भाँति यह स्वप्न तिरोहित हो जाता।

(४)

इस तरह कई महीने बीत गये थे। एक दिन राजा हरिश्चन्द्र प्रभा को अपनी चित्रशाला में ले गये। उसके प्रथम भाग में ऐतिहासिक चित्र थे। सामने ही शूरवीर महाराणा प्रतापसिंह का चित्र नजर आया। मुखारविंद से वीरता की ज्योति स्फुटित हो रही थी। तनिक और आगे बढ़कर दाहिनी ओर स्वामिभक्त जगमल, वीरवर साँगा और दिलेर दुर्गादास विराजमान थे। बायीं ओर उदार भीमसिंह बैठे हुये थे। राणाप्रताप के सम्मुख महाराष्ट्रकेसरी वीर शिवाजी का चित्र था। दूसरे भाग में कर्मयोगी कृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम राम विराजते थे। चतुर चित्रकारों ने चित्र-निर्माण में अपूर्व कौशल दिखलाया था। प्रभा ने प्रताप के पाद पद्मों को चूमा और वह कृष्ण के सामने देर तक नेत्रों में प्रेम और श्रद्धा के आँसू-भरे मस्तक झुकाये खड़ी रही। उसके हृदय पर इस समय कलुषित प्रेम का भय खटक रहा था। उसे मालूम होता था कि यह उन महापुरुषों के चित्र नहीं, उनकी पवित्र आत्माएँ हैं। उन्हीं के चरित्र से भारतवर्ष का इतिहास गौरवान्वित है। वे भारत के बहुमूल्य जातीय रत्न, उच्चकोटि के जातीय स्मारक और गगनभेदी जातीय तुमुल ध्वनि है। ऐसी उच्च आत्माओं के सामने खड़े होते उसे सकोच होता था। आगे वही दूसरा भाग सामने आया। यहाँ ज्ञानमय बुद्धि योग-साधन में बैठे हुए देख पड़े। उनकी दाहिना

ओर शास्त्रज्ञ शंकर थे और बाँयें दार्शनिक दयानन्द। एक ओर शान्तिपथगामी कबीर और भक्त रामदास यथायोग्य खड़े थे। एक दीवार पर गुरु गोविन्द अपने देश और जाति के नाम पर बलि चढ़ानेवाले दोनों बच्चों के साथ विराजमान थे। दूसरी दीवार पर वेदान्त की ज्योति फैलानेवाले स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द विराजमान थे। चित्रकारों की योग्यता एक-एक अवयव से टपकती थी। प्रभा ने इनके चरणों पर मस्तक टेका। वह उनके सामने सिर न उठा सकी। उसे अनुभव होता था कि उनकी दिव्य आँखें उसके दूषित हृदय में चुभी जाती हैं।

इसके बाद तीसरा भाग आया। यह प्रतिभाशाली कवियों की सभा थी। सर्वोच्च स्थान पर आदिकवि वाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास सुशोभित थे। दाहिनी ओर शृङ्गाररस के अद्वितीय कवि कालिदास थे, बाँयीं तरफ़ गम्भीर भावों से पूर्ण भवभूति। निकट ही भर्तृहरि अपने सन्तोषाश्रम में बैठे हुए थे।

दक्षिण की दीवार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के कवियों का सम्मेलन था। सहृदय कवि सूर, तेजस्वी तुलसी, सुकवि केशव और रसिक बिहारी यथाक्रम विराजमान थे। सूरदास से प्रभा का अगाध प्रेम था। वह समीप जाकर उनके चरणों पर मस्तक रखना ही चाहती थी कि अकस्मात् उन्हीं चरणों के सम्मुख सिर झुकाये उसे एक छोटा-सा चित्र दीख पड़ा। प्रभा उसे देखकर चौंक पड़ी। यह वही चित्र था जो उसके हृदय पट पर खिंचा हुआ था। वह खुलकर उसकी तरफ़ ताक न सकी। दबी हुई आँखों से देखने लगी। राजा हरिचन्द्र ने मुसकराकर पूछा—इस व्यक्ति को तुमने कहीं देखा है?

इस प्रश्न से प्रभा का हृदय काँप उठा। जिस तरह मृग-शावक व्याध के सामने व्याकुल होकर इधर-उधर देखता है, उसी तरह प्रभा अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से दीवार की ओर ताकने लगी। सोचने लगी—क्या उत्तर दूँ? इसको कहीं देखा है, उन्होंने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया? कहीं ताड़ तो नहीं गये? हे नारायण, मेरी पत तुम्हारे हाथ है, क्योंकर इनकार करूँ? मुँह पीला हो गया। सिर झुकाकर क्षीण स्वर से बोली—

'हाँ, ध्यान आता है कि कहीं देखा है।'

हरिश्चन्द्र ने कहा—कहाँ देखा है?

प्रभा के सिर में चक्कर-सा आने लगा। बोली—शायद एक बार यह गाता हुआ मेरी वाटिका के सामने जा रहा था। उमा ने बुलाकर इसका गाना सुना था।

हरिश्चन्द्र ने पूछा—कैसा गाना था ?

प्रभा के होश उड़े हुए थे। सोचती थी, राजा के इन सवालों में जरूर कोई बात है। देखूँ, लाज रहती है या नहीं। बोली—उसका गाना ऐसा बुरा न था।

हरिश्चन्द्र ने मुस्कराकर कहा—क्या गाता था ?

प्रभा ने सोचा, इस प्रश्न का उत्तर दे दूँ तो बाक़ी क्या रहता है। उसे विश्वास हो गया कि आज कुशल नहीं है। वह छत की ओर निरखती हुई बोली—सूरदास का कोई पद था।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह तो नहीं—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति !

प्रभा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सिर घूमने लगा, वह खड़ी न रह सकी, बैठ गयी और हताश होकर बोली—हाँ, यही पद था। फिर उसने कलेजा मजबूत करके पूछा—आपको कैसे मालूम हुआ ?

हरिश्चन्द्र बोले—वह योगी मेरे यहाँ अकसर आया-जाया करता है। मुझे भी उसका गाना पसन्द है। उसी ने मुझे यह हाल बताया था, किन्तु वह तो कहता था कि राजकुमारी ने मेरे गानों को बहुत पसन्द किया और पुनः आने के लिए आदेश किया।

प्रभा को अब सच्चा क्रोध दिखाने का अवसर मिल गया। वह बिगड़कर बोली—यह बिलकुल झूठ है। मैंने उससे कुछ नहीं कहा—

हरिश्चन्द्र बोले—यह तो मैं पहले ही समझ गया था कि यह उन महाशय की चालाकी है। डींग मारना गवैयों की आदत है, परन्तु इसमें तो तुम्हें इनकार नहीं कि उसका गाना बुरा न था ?

प्रभा बोली—ना ! अच्छी चीज को बुरी कौन कहेगा ?

हरिश्चन्द्र ने पूछा—फिर सुनना चाहो तो उसे बुलवाऊँ। सिर के बल दौड़ा आयेगा।

'क्या उनके दर्शन फिर होंगे ?' इस आशा से प्रभा का मुखमण्डल विकसित

हो गया। परन्तु इन कई महीनों की लगातार कोशिश से जिस बात को भुलाने में वह किंचित सफल हो चुकी थी, उसके फिर नवीन हो जाने का भय हुआ। बोली—इस समय गाना सुनने को मेरा जी नहीं चाहता।

राजा ने कहा—यह मैं न मानूँगा कि तुम और गाना नहीं सुनना चाहतीं, मैं उसे अभी बुलाये लाता हूँ।

यह कहकर राजा हरिश्चन्द्र तीर की तरह कमरे से बाहर निकल गये। प्रभा उन्हें रोक न सकी। वह बड़ी चिन्ता में डूबी खड़ी थी। हृदय में ख़ुशी और रंज की लहरें बारी-बारी से उठती थीं। मुश्किल से दस मिनट बीते होंगे कि उसे सितार के मस्ताने सुर के साथ योगी की रसीली तान सुनाई दी—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

वही हृदयग्राही राग था, वही हृदय-भेदी प्रभाव, वही मनोहरता और वही सब कुछ, जो मन को मोह लेता है। क्षण एक में योगी की मोहिनी मूर्ति दिखाई दी। वही मस्तानापन, वही मतवाले नेत्र, वही नयनाभिराम देवताओं का-सा स्वरूप। मुखमडल पर मन्द-मन्द मुस्कान थी। प्रभा ने उसकी तरफ़ सहमी हुई आँखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आँखों के आगे से एक पर्दा हट गया। प्रेम-विह्वल हो, आँखों में आँसू-भरे वह अपने पति के चरणारविन्दों पर गिर पड़ी, और गद्गद कंठ से बोली—प्यारे! प्रियतम!

राजा हरिचश्न्द्र को आज सच्ची विजय प्राप्त हुई। उन्होंने प्रभा को उठाकर छाती से लगा लिया। दोनों आज एक प्राण हो गये। राजा हरिश्चन्द्र ने कहा—जानती हो, मैंने यह स्वाँग क्यों रचा था? गाने का मुझे सदा से व्यसन है और सुना है कि तुम्हें भी इसका शौक़ है। तुम्हें अपना हृदय भेंट करने से प्रथम एक बार तुम्हारा दर्शन करना आवश्यक प्रतीत हुआ और उसके लिए सबसे सुगम उपाय यही सूझ पड़ा।

प्रभा ने अनुराग से देखकर कहा—योगी बनकर तुमने जो कुछ पा लिया, वह राजा रहकर कदापि न पा सकते। अब तुम मेरे पति हो और प्रियतम भी हो; पर तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया और मेरी आत्मा को कलंकित किया। इसका उत्तरदाता कौन होगा?

———

लाग-डाँट

चोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी। कुछ डाँड़ मेंड़ का झगड़ा था। उनके परदादों में कई बार खून-खच्चर हुआ। बापों के समय से मुकदमेबाजी शुरू हुई। दोनों कई बार हाईकोर्ट तक गये। लड़कों के समय में संग्राम की भीषणता और भी बढ़ी, यहाँ तक कि दोनों ही अशक्त हो गये। पहले दोनों इसी गाँव में आधे-आधे के हिस्सेदार थे। अब उनके पास उस झगड़ेवाले खेत को छोड़कर एक अंगुल जमीन न थी। भूमि गयी, धन गया, मान-मर्यादा गया, लेकिन वह विवाद ज्यों का त्यों बना रहा। हाईकोर्ट के धुरन्धर नीतिज्ञ एक मामूली-सा झगड़ा तय न कर सके।

इन दोनों सज्जनों ने गाँव को दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिया था। एक दल की भंग बूटी चौधरी के द्वार पर छनती, तो दूसरे दल के चरस गाँजे के दम भगत के द्वार पर लगते थे। स्त्रियों और बालकों के भी दो दल हो गये थे। यहाँ तक कि दोनों सज्जनों के सामाजिक और धार्मिक विचारों में भी विभाजक रेखा खिंची हुई थी। चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को ढोंगी कहते। भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते। भगत सनातनधर्मी बने तो चौधरी ने आर्यसमाज का आश्रय लिया। जिस बजाज, पन्सारी या कुँजड़े से चौधरी सौदे लेते उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे और भगतजी के हलवाई की मिठाइयाँ, उनके ग्वाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के लिए त्याज्य थे। यहाँ तक कि उनके आरोग्यता के सिद्धान्तों में भी भिन्नता थी। भगतजी वैद्यक के कायल थे, चौधरी यूनानी प्रथा को माननेवाले। दोनों चाहे रोग से मर जाते, पर अपने सिद्धान्तों को न तोड़ते।

(२)

जब देश में राजनैतिक आन्दोलन शुरू हुआ तो उसकी भनक उस गाँव में आ पहुँची। चौधरी ने आन्दोलन का पक्ष लिया, भगत उसके विपक्षी हो गये।

एक सज्जन ने आकर गाँव में किसान-सभा खोली। चौधरी उसमें शरीक हुए, भगत अलग रहे। जागृति और बढ़ी, स्वराज्य की चर्चा होने लगी। चौधरी स्वराज्यवादी हो गये, भगत ने राजभक्ति का पक्ष लिया। चौधरी का घर स्वराज्यवादियों का अड्डा हो गया, भगत का घर राजभक्तों का क्लब बन गया।

चौधरी जनता में स्वराज्यवाद का प्रचार करने लगे :—

"मित्रों, स्वराज्य का अर्थ है अपना राज। अपने देश में अपना राज हो। वह अच्छा है कि किसी दूसरे का राज हो वह ?"

जनता ने कहा—अपना राज हो, वह अच्छा है।

चौधरी—तो वह स्वराज्य कैसे मिलेगा ? आत्मबल से, पुरुषार्थ से, मेल से, एक दूसरे से द्वेष करना छोड़ दो। अपने झगड़े आप मिलकर निपटा लो।

एक शंका—आप तो नित्य अदालत में खड़े रहते हैं।

चौधरी—हाँ, पर आज से अदालत जाऊँ तो मुझे गऊ हत्या का पाप लगे। तुम्हें चाहिए कि तुम अपनी गाढ़ी कमाई अपने बाल-बच्चों को खिलाओ, और बचे तो परोपकार में लगाओ, वकील-मुखतारों की जेब क्यों भरते हो, थानेदार को घूस क्यों देते हो, अमलों की चिरौरी क्यों करते हो ? पहले हमारे लड़के अपने धर्म की शिक्षा पाते थे; वह सदाचारी, त्यागी, पुरुषार्थी बनते थे। अब वह विदेशी मदरसों में पढ़कर चाकरी करते हैं, घूस खाते हैं, शौक करते हैं, अपने देवताओं और पितरों की निन्दा करते हैं, सिगरेट पीते हैं, बाल बनाते हैं और हाकिमों की गोड़धरिया करते हैं। क्या यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम अपने बालकों को धर्मानुसार शिक्षा दें ?

जनता—चन्दा करके पाठशाला खोलनी चाहिए।

चौधरी—हम पहले मदिरा का छूना पाप समझते थे। अब गाँव गाँव और गली गली में मदिरा की दूकानें हैं। हम अपनी गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपये गाँजे-शराब में उड़ा देते हैं।

जनता—जो दारू-भाँग पिये उसे डाँड़ लगना चाहिए !

चौधरी—हमारे दादा-बाबा, छोटे-बड़े सब गाढ़ा-गाजी पहनते थे। हमारी दादियाँ-नानियाँ चरखा काता करती थीं। सब धन देश में रहता था, हमारे जुलाहे भाई चैन की बंशी बजाते थे। अब हम विदेश के बने हुए महीन

एक आवाज--शराब पीने से बदन में स्फूर्ति आ जाती है।

एक शंका—सरकार अधर्म से रुपया कमाती है। उसे यह उचित नहीं अधर्मी के राज में रहकर प्रजा का कल्याण कैसे हो सकता है?

दूसरी शका—पहले दारू पिलाकर पागल बना दिया। लत पड़ी तो पैसे की चाट हुई। इतनी मजूरी किसको मिलती है कि रोटी-कपड़ा भी चले और दारू-शराब भी उड़े? या तो बाल-बच्चों को भूखों मारो या चोरी करो, जुआ खेलो और बेईमानी करो। शराब की दूकान क्या है? हमारी गुलामी का अड्डा है।

(४)

चौधरी के उपदेश सुनने के लिए जनता टूटती थी। लोगों को खड़े होने को जगह न मिलती। दिनों-दिन चौधरी का मान बढ़ने लगा। उनके यहाँ नित्य पचायतों की, राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती, जनता को इन बातों में बड़ा आनन्द और उत्साह होता। उनके राजनैतिक ज्ञान की वृद्धि होती। वह अपना गौरव और महत्त्व समझने लगे, उन्हें अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा। निरकुशता और अन्याय पर अब उनकी तिउरियाँ चढ़ने लगीं। उन्हें स्वतन्त्रता का स्वाद मिला। घर की रुई, घर का सूत, घर का कपड़ा, घर का भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमलों की ख़ुशामद, सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगे। कितनों ही ने नशेबाजी छोड़ दी और सद्भावों की एक लहर सी दौड़ने लगी।

लेकिन भगतजी इतने भाग्यशाली न थे। जनता को दिनों-दिन उनके उपदेशों से अरुचि होती जाती थी। यहाँ तक कि बहुधा उनके श्रोताओं में पटवारी, चौकीदार, मुदर्रिस और इन्हीं कर्मचारियों के मित्रों के अतिरिक्त और कोई न होता था। कभी-कभी बड़े हाकिम भी आ निकलते और भगतजी का बड़ा आदर सत्कार करते। जरा देर के लिए भगतजी के आँसू पुँछ जाते, लेकिन क्षण-भर का सम्मान आठों पहर के अपमान की बराबरी कैसे करता! जिधर निकल जाते उधर ही उँगलियाँ उठने लगतीं। कोई कहता, ख़ुशामदी टट्टू है, कोई कहता, खुफ़िया पुलिस का भेदी है। भगतजी अपने प्रतिद्वन्द्वी की बड़ाई और अपनी लोकनिन्दा पर दाँत पीस-पीसकर रह जाते थे। जीवन में यह

पहला ही अवसर था कि उन्हें सबके सामने नीचा देखना पड़ा। चिरकाल से जिस कुल मर्यादा की रक्षा करते आये थे और जिसपर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह धूल में मिल गयी। यह दाहमय चिन्ता उन्हें एक क्षण के लिए चैन न लेने देती। नित्य समस्या सामने रहती कि अपना खोया हुआ सम्मान क्योंकर पाऊँ, अपने प्रतिपक्षी को क्योंकर पददलित करूँ, कैसे उसका ग़ुरूर तोड़ूँ?

अन्त में उन्होंने सिंह को उसी की मोंद में ही पछाड़ने का निश्चय किया।

(५)

सन्ध्या का समय था। चौधरी के द्वार पर एक बड़ी सभा हो रही थी। आस-पास के गाँवों के किसान भी आ गये थे, हजारों आदमियों की भीड़ थी। चौधरी उन्हें स्वराज्य-विषयक उपदेश दे रहे थे। बार-बार भारतमाता की जय-जयकार की ध्वनि उठती थी। एक ओर स्त्रियों का जमाव था। चौधरी ने अपना उपदेश समाप्त किया और अपनी जगह पर बैठे। स्वयं-सेवकों ने स्वराज्य फण्ड के लिए चन्दा जमा करना शुरू कर दिया कि इतने में भगतजी न जाने किधर से लपके हुए आये और श्रोताओं के सामने खड़े होकर उच्च स्वर से बोले :—

भाइयो, मुझे यहाँ देखकर अचरज मत करो, मैं स्वराज्य का विरोधी नहीं हूँ। ऐसा पतित कौन प्राणी होगा जो स्वराज्य का निन्दक हो; लेकिन इसके प्राप्त करने का वह उपाय नहीं है जो चौधरी ने बतलाया है और जिस पर तुम लोग लट्टू हो रहे हो। जब आपस में फूट और राड़ है तो पञ्चायतों से क्या होगा? जब विलासिता का भूत सिर पर सवार है तो नशा कैसे छूटेगा, मदिरा की दूकानों का बहिष्कार कैसे होगा? सिगरेट, साबुन, मोजे, बनियान, अद्धी, तजेब से कैसे पिण्ड छूटेगा? जब रोब और हुकूमत की लालसा बनी हुई है तो सरकारी मदरसे कैसे छोड़ोगे, विधर्मी शिक्षा की बेड़ी से कैसे मुक्त हो सकोगे? स्वराज्य लेने का केवल एक ही उपाय है और वह आत्म-संयम है। यही महौषधि तुम्हारे समस्त रोगों को समूल नष्ट करेगी। आत्मा को बलवान बनाओ, इन्द्रियों को साधो, मन को वश में करो, तुममें भ्रातृभाव पैदा होगा, तभी वैमनस्य मिटेगा, तभी ईर्ष्या और द्वेष का नाश होगा, तभी भोग-विलास

से मन हटेगा, तभी नशेबाजी का दमन होगा। आत्मबल के बिना स्वराज्य कभी उपलब्ध न होगा। स्वयसेवा सब पापों का मूल है, यही तुम्हें अदालतों में ले जाता है, यही तुम्हें विधर्मी शिक्षा का दास बनाये हुए है। इस पिशाच को आत्मबल से मारो और तुम्हारी कामना पूरी हो जायगी। सब जानते हैं, मैं ४० साल से अफीम का सेवन करता हूँ। आज से मैं अफीम को गऊ का रक्त समझता हूँ। चौधरी से मेरी तीन पीढ़ियों की अदावत है। आज से चौधरी मेरे भाई हैं। आज से मुझे या मेरे घर के किसी प्राणी को घर के कते सूत से बुने हुए कपड़े के सिवाय कुछ और पहनते देखो तो मुझे जो दण्ड चाहो दो। बस मुझे यही कहना है, परमात्मा हम सबकी इच्छा पूरी करे।

यह कहकर भगतजी घर की ओर चले कि चौधरी दौड़कर उनके गले से लिपट गये। तीन पुश्तों की अदावत एक क्षण में शान्त हो गयी।

उस दिन से चौधरी और भगत साथ साथ स्वराज्य का उपदेश करने लगे। उनमें गाढ़ी मित्रता हो गयी और यह निश्चय करना कठिन था कि दोनों में जनता किसका अधिक सम्मान करती है।

प्रतिद्वन्द्विता वह चिनगारी थी जिसने दोनों पुरुषों के हृदय-दीपक को प्रकाशित कर दिया था।



अमावास्या की रात्रि

दिवाली की सन्ध्या थी। श्रीनगर के घूरों और खण्डहरों के भी भाग्य चमक उठे थे। कस्बे के लड़के और लड़कियाँ श्वेत थालियों में दीपक लिये मन्दिर की ओर जा रही थीं। दीपों से उनके मुखारविन्द प्रकाशमान् थे। प्रत्येक गृह रोशनी से जगमगा रहा था। केवल पण्डित देवदत्त का सतधरा भवन काली घटा के अन्धकार में गंभीर और भयंकर रूप में खड़ा था। गम्भीर इसलिए कि उसे अपनी उन्नति के दिन भूले न थे, भयंकर इसलिए कि यह जगमगाहट मानों उसे चिढ़ा रही थी। एक समय वह था जब कि ईर्षा भी उसे देख-देखकर हाथ मलती थी और एक समय यह है जब कि घृणा भी उस पर कटाक्ष करती है। द्वार पर द्वारपाल की जगह अब मदार और एरण्ड के वृक्ष खड़े थे। दीवानखाने में एक मतंग साँड़ अकड़ता था। ऊपर के घरों में जहाँ सुन्दर रमणियाँ मनोहारी सङ्गीत गाती थीं, वहाँ आज जंगली कबूतरों के मधुर स्वर सुनाई देते थे। किसी अँगरेजी मदरसे के विद्यार्थी के आचरण की भाँति उसकी जड़ें हिल गयी थीं और उसकी दीवारें किसी विधवा स्त्री के हृदय की भाँति विदीर्ण हो रही थीं; पर समय को हम कुछ नहीं कह सकते। समय की निन्दा व्यर्थ और भूल है, यह मूर्खता और अदूरदर्शिता का फल था।

अमावस्या की रात्रि थी। प्रकाश से पराजित होकर मानों अन्धकार ने उसी विशाल भवन में शरण ली थी। पण्डित देवदत्त अपने अर्द्ध अन्धकारवाले कमरे में मौन, परन्तु चिन्ता में निमग्न थे। आज एक महीने से उनकी पत्नी गिरिजा की ज़िन्दगी को निर्दय काल ने खिलवाड़ बना लिया है। पण्डितजी दरिद्रता और दुःख को भुगतने के लिए तैयार थे। भाग्य का भरोसा उन्हें धैर्य बँधाता था; किन्तु यह नयी विपत्ति सहन-शक्ति से बाहर थी। बिचारे दिन के दिन गिरिजा के सिरहाने बैठे उसके मुरझाये हुए मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। गिरिजा जब अपने जीवन से निराश होकर रोती तो वह उसे समझाते—गिरिजा, रोओ मत, शीघ्र ही अच्छी हो जाओगी।

पण्डित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेनदेन किया करते थे। अधिकतर उनके व्यवहार बड़े-बड़े चकलेदारों और रजवाड़ों के साथ थे। उस समय ईमान इतना सस्ता नहीं बिकता था। सादे पत्रों पर लाखों की बातें हो जाती थीं। मगर सन् ५७ ई० के बलवे ने कितनी ही रियासतों और राज्यों को मिटा दिया और उनके साथ तिवारियों का यह अन्न-धन पूर्ण परिवार भी मिट्टी में मिल गया। खजाना लुट गया, बही खाते पसारियों के काम आये। जब कुछ शान्ति हुई, रियासतें फिर सँभली तो समय पलट चुका था। वचन लेख के अधीन हो रहा था, तथा लेख में भी सादे और रंगीन का भेद होने लगा था।

जब देवदत्त ने होश सँभाला तब उनके पास इस खंडहर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति न थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय न था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या भी ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते, परिवार की प्रतिष्ठा दान लेने में बाधक थी। अस्तु, साल में दो-तीन बार अपने पुराने व्यवहारियों के घर बिना बुलाये पाहुनों की भाँति जाते और जो कुछ बिदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुजारा करते। पैतृक प्रतिष्ठा का चिह्न यदि कुछ शेष था, तो वह पुरानी चिट्ठी-पत्रियों का ढेर तथा हुँडियों का पुलिन्दा, जिनकी स्याही भी उनके मन्द भाग्य की भाँति फीकी पड़ गयी थी। पण्डित देवदत्त उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय समझते। द्वितीया के दिन जब घर-घर लक्ष्मी की पूजा होती है, पण्डितजी ठाट-बाट से इन पुलिन्दों की पूजा करते। लक्ष्मी न सही, लक्ष्मी-स्मारक चिह्न ही सही। दूज का दिन पण्डितजी की प्रतिष्ठा के श्राद्ध का दिन था। इसे चाहे विडम्बना कहो, चाहे मूर्खता, परन्तु श्रीमान् पण्डित महाशय को उन पत्रों पर बड़ा अभिमान था। जब गाँव में कोई विवाद छिड़ जाता तो यह सड़े गले कागजों की सेना ही बहुत काम कर जाती और प्रतिवादी शत्रु को हार माननी पड़ती। यदि सत्तर पीढ़ियों से शस्त्र की सूरत न देखने पर भी लोग क्षत्रिय होने का अभिमान करते हैं, तो पण्डित देवदत्त का उन लेखों पर अभिमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, जिसमें सत्तर लाख रुपयों की रक़म छिपी हुई थी।

(२)

वही अमावास्या की रात्रि थी। किन्तु दीपमालिका अपनी अल्प जीवनी समाप्त कर चुकी थी। चोरों और जुआरियों के लिए यह शकुन की रात्रि थी, क्योंकि आज की हार साल-भर की हार होती है। लक्ष्मी के आगमन की धूम थी। कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं। भट्ठियों में शराब के बदले पानी बिक रहा था। पण्डित देवदत्त के अतिरिक्त कस्बे में कोई ऐसा मनुष्य नहीं था, जो कि दूसरों की कमाई समेटने की धुन में न हो। आज भोर से ही गिरिजा की अवस्था शोचनीय थी। विषम ज्वर उसे एक-एक क्षण में मूर्छित कर रहा था। एकाएक उसने चौंककर आँखें खोलीं और अत्यन्त क्षीण स्वर में कहा—आज तो दीवाली है।

देवदत्त ऐसा निराश हो रहा था कि गिरिजा को चैतन्य देखकर भी उसे आनन्द नहीं हुआ। बोला—हाँ, आज दीवाली है।

गिरिजा ने आँसू-भरी दृष्टि से इधर-उधर देखकर कहा—हमारे घर में क्यों दीपक न जलेंगे?

देवदत्त फूट-फूटकर रोने लगा। गिरिजा ने फिर उसी स्वर में कहा—देखो, आज बरस-बरस के दिन घर अँधेरा रह गया। मुझे उठा दो, मैं भी अपने घर में दीये जलाऊँगी।

ये बातें देवदत्त के हृदय में चुभी जाती थीं। मनुष्य की अन्तिम घड़ी लालसाओं और भावनाओं में व्यतीत होती है।

इस नगर में लाला शंकरदास अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। अपने प्राणसंजीवनी औषधालय में दवाओं के स्थान पर छापने का प्रेस रखे हुए थे। दवाइयाँ कम बनती थीं, किन्तु इश्तहार अधिक प्रकाशित होते थे।

वे कहा करते थे कि बीमारी केवल रईसों का ढकोसला है और पोलिटिकल एकानोमी (राजनीतिक अर्थशास्त्र) के मतानुसार इस विलास-पदार्थ से जितना अधिक सम्भव हो, टैक्स लेना चाहिए। यदि कोई निर्धन है तो हो। यदि कोई मरता है तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ्त में दवा कराये? भारतवर्ष की यह दशा अधिकतर मुफ्त दवा कराने से हुई है। इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है। देवदत्त

शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्ध अवस्था में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। यह शब्द समीप हो गये और अन्त में पण्डित देवदत्त के समीप आकर उनके खँडहर में डूब गये। पण्डितजी उस समय निराशा के अथाह समुद्र में गोते खा रहे थे। शोक में इस योग्य भी नहीं थे कि प्राणों से अधिक प्यारी गिरिजा की दवा-दरपन कर सकें। क्या करें? इस निष्ठुर वैद्य को यहाँ कैसे लायें?—जालिम,मैं सारी उमर तेरी गुलामी करता। तेरे इश्तहार छापता। तेरी दवाइयाँ कूटता। आज पण्डितजी को यह ज्ञात हुआ कि सत्तर लाख की चिट्ठी पत्रियाँ इतनी कौड़ियों के मोल भी नहीं। पैतृक प्रतिष्ठा का अहंकार अब आँखों से दूर हो गया। उन्होंने उस मखमली थैले को सन्दूक से बाहर निकाला और उन चिट्ठी-पत्रियों को, जो बाप-दादों की कमाई का शेषांश थी और प्रतिष्ठा की भाँति जिनकी रक्षा की जाती थी, एक एक करके दीया को अर्पण करने लगे। जिस तरह सुख और आनन्द से पालित शरीर चिता की भेंट हो जाता है, उसी प्रकार वह कागज़ी पुतलियाँ भी उस प्रज्वलित दीया के धधकते हुए मुँह का ग्रास बनती थीं। इतने में किसी ने बाहर से पण्डितजी को पुकारा। उन्होंने चौंककर सिर उठाया। वे नींद से, अँधेरे में टटोलते हुए दरवाजे तक आये। देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिये हुए खड़े हैं और एक हाथी अपने सूँड़ से उन एरण्ड के वृक्षों को उखाड़ रहा है, जो द्वार पर द्वारपालों की भाँति खड़े थे। हाथी पर एक सुन्दर युवक बैठा है जिसके सिर पर केसरिया रङ्ग की रेशमी पाग है। माथे पर अर्धचन्द्राकार चदन, भाले की तरह तनी हुई नोकदार मूँछें, मुखारविन्द से प्रभाव और प्रकाश टपकता हुआ, कोई सरदार मालूम पड़ता था। उसका कलीदार अँगरखा और चुनावदार पैजामा, कमर में लटकती हुई तलवार और गर्दन में सुनहरे कंठे और जंजीर उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। पण्डितजी को देखते ही उसने रकाब पर पैर रखा और नीचे उतरकर उनकी वन्दना की। उसके इस विनीत भाव से कुछ लज्जित होकर पण्डितजी बोले—आपका आगमन कहाँ से हुआ?

नवयुवक ने बड़े नम्र शब्दों में जवाब दिया। उसके चेहरे से भलमनसाहत बरसती थी—मैं आपका पुराना सेवक हूँ। दास का घर राजनगर है। मैं वहाँ

का जागीरदार हूँ। मेरे पूर्वजों पर आपके पूर्वजों ने बड़े अनुग्रह किये हैं। मेरी इस समय जो कुछ प्रतिष्ठा तथा सम्पदा है, सब आपके पूर्वजों की कृपा और दया का परिणाम है। मैंने अनेक स्वजनों से आपका नाम सुना था और मुझे बहुत दिनों से आपके दर्शनों की आकांक्षा थी। आज वह सुअवसर भी मिल गया। अब मेरा जन्म सफल हुआ।

पण्डित देवदत्त की आँखों में आँसू भर आये। पैतृक प्रतिष्ठा का अभिमान उनके हृदय का कोमल भाग था।

वह दीनता जो उनके मुख पर छाई हुई थी, थोड़ी देर के लिए विदा हो गयी। वे गम्भीर भाव धारण करके बोले—यह आपका अनुग्रह है जो ऐसा कहते हैं। नहीं तो मुझ-जैसे कपूत में तो इतना भी योग्यता नहीं है जो अपने को उन लोगों की सन्तति कह सकूँ। इतने में नौकरों ने आँगन में फर्श बिछा दिया। दोनों आदमी उस पर बैठे और बातें होने लगी, वे बातें जिनका प्रत्येक शब्द पण्डितजी के मुख को इस तरह प्रफुल्लित कर रहा था जिस तरह प्रातःकाल की वायु फूलों को खिला देती है। पण्डितजी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को पचीस सहस्र रुपये कर्ज़ दिये थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहता था, इसलिए जरूरी था कि उसके ज़िम्मे जो कुछ ऋण हो, उसकी एक-एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर को पुराने बही-खाते में यह ऋण दिखाई दिया। पचीस के अब पचहत्तर हज़ार हो चुके थे। वही ऋण चुका देने के लिए ठाकुर आया था। धर्म ही वह शक्ति है जो अन्तःकरण में ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हाँ, इस विचार को कार्य में लाने के लिए एक पवित्र और बलवान् आत्मा की आवश्यकता है। नहीं तो वे ही विचार क्रूरता और पापमय हो जाते हैं। अन्त में ठाकुर ने कहा—आपके पास तो वे चिट्ठियाँ होंगी?

देवदत्त का दिल बैठ गया। वे सँभलकर बोले—सम्भवतः हाँ। कुछ कह नहीं सकते।

ठाकुर ने लापरवाही से कहा—ढूँढ़िए, यदि मिल जायँ तो हम लेते जायँगे।

पण्डित देवदत्त उठे, लेकिन हृदय ठंडा हो रहा था। शंका होने लगी कि

मुझे गिरिजा की आवश्यकता है, रुपयों की आवश्यकता नहीं। यह सौदा बड़ा मँहगा है।

(६)

अमावास्या की अँधेरी रात गिरिजा के अन्धकारमय जीवन की भाँति समाप्त हो चुकी थी। खेतों में हल चलानेवाले किसान ऊँचे और सुहावने स्वर से गा रहे थे। सर्दी से काँपते हुए बच्चे सूर्य्य-देवता से बाहर निकलने की प्रार्थना कर रहे थे। पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थीं। पानी भरने के लिए नहीं; हँसने के लिए। कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नकल कर रही थी, कोई खम्भों से चिपटी हुई अपनी सहेली से मुसकराकर प्रेमरहस्य की बातें करती थीं। बूढ़ी स्त्रियाँ पोतों को गोद में लिये अपनी बहुओं को कोस रही थीं कि घटे-भर हुए अब तक कुएँ से नहीं लौटीं। किन्तु राजवैद्य लाला शकरदास अभी तक मीठी नींद ले रहे थे। खाँसते हुए बच्चे और कराहते हुए बूढ़े उनके औषधालय के द्वार जमा हो चले थे। इस भीड़-भब्भड़ से कुछ दूर पर दो तीन सुन्दर किंतु मुर्झाये हुए नवयुवक टहल रहे थे और वैद्यजी से एकान्त में कुछ बातें किया चाहते थे। इतने में पण्डित देवदत्त नगे सिर, नगे बदन, लाल आँखें, डरावनी सूरत, कागज़ का एक पुलिंदा लिये दौड़ते हुए आये और औषधाल्य के द्वार पर इतने ज़ोर से हाँक लगाने लगे कि वैद्यजी चौंक पड़े और कहार को पुकारकर बोले कि दरवाज़ा खोल दे। कहार महात्मा बड़ी रात गये किसी बिरादरी की पंचायत से लौटे थे। उन्हें दीर्घ निद्रा का रोग था जो वैद्यजी के लगातार भाषण और फटकार की औषधियों से भी कम न होता था। आप ऐंठते हुए उठे और किवाड़ खोलकर हुक्का-चिलम की चिन्ता में आग ढूँढ़ने चले गये। हकीमजी उठने की चेष्टा कर रहे थे कि सहसा देवदत्त उनके सम्मुख जाकर खड़े हो गये और नोटों का पुलिन्दा उनके आगे पटककर बोले—वैद्यजी, ये पचहत्तर हजार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फ़ीस है। आप चलकर गिरिजा को देख लीजिए और ऐसा कुछ कीजिए कि वह केवल एक बार आँखें खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है—केवल एक दृष्टि पर। आपको

रुपये मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष हैं। मुझे गिरिजा की एक चितवन इन रुपयों से कई गुनी प्यारी है।

वैद्यजी ने लज्जामय सहानुभूति से देवदत्त की ओर देखा और केवल इतना कहा—मुझे अत्यन्त शोक है, मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ। किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है। सचमुच है।

ये बातें वैद्यजी के अन्तःकरण से निकली थीं।



था। इतने में दो वालटियर झण्डियाँ लिये हुए उनकी दूकान के सामने आकर खड़े हो गये।

सेठजी ने डाँटकर कहा—हट जाओ हमारी दूकान के सामने से।

एक वालटियर ने उत्तर दिया—महाराज, हम तो सड़क पर हैं। क्या यहाँ से भी चले जायँ?

सेठजी—मैं तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहता।

वालटियर—तो आप कांग्रेस कमेटी को लिखिए। हमको तो वहाँ से यहाँ खड़े रहकर पहरा देने का हुक्म मिला है।

एक कान्सटेबिल ने आकर कहा—क्या है सेठजी है यह लौंडा क्या टर्राता है।

चन्दूमल बोले—मैं कहता हूँ कि दूकान के सामने से हट जाओ, पर यह कहता है कि न हटेंगे। जरा इसकी जबरदस्ती देखो।

कान्सटेबिल—(वालटियरों से) तुम दोनों यहाँ से जाते हो कि आकर गरदन नापूँ?

वालटियर - हम सड़क पर खड़े हैं, दुकान पर नहीं।

कान्सटेबिल का अभीष्ट अपनी कारगुजारी दिखाना था। वह सेठजी को ख़ुश करके कुछ इनाम-इकराम भी लेना चाहता था। उसने वालटियरों को अपशब्द कहे और जब उन्होंने उसकी कुछ परवा न की तो एक वालटियर को इतने जोर से धक्का दिया कि वह बेचारा मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ा। कई वालटियर इधर उधर से आकर जमा हो गये। कई सिपाही भी आ पहुँचे। दर्शकवृन्द को ऐसी घटनाओं में मजा आता ही है। उनकी भीड़ लग गयी। किसी ने हाँक लगाई 'महात्मा गाँधी की जय'। औरों ने भी उसके सुर में सुर मिलाया, देखते-देखते एक जनसमूह एकत्रित हो गया।

एक दर्शक ने कहा—क्या है लाला चन्दूमल? अपनी दूकान के सामने इन गरीबों की यह दुर्गति करा रहे हो, और तुम्हें ज़रा भी लज्जा नहीं आती? कुछ भगवान् का भी डर है या नहीं?

सेठजी ने कहा—मुझसे क़सम ले लो जो मैंने किसी सिपाही से कुछ कहा हो। ये लोग अनायास बेचारों के पीछे पड़ गये। मुझे सेंत में बदनाम करते हैं।

एक सिपाही—लालाजी, आपही ने तो कहा था कि ये दोनों वालंटियर मेरे ग्राहकों को छेड़ रहे हैं। अब आप निकले जाते हैं?

चन्दूमल—बिलकुल झूठ, सरासर झूठ, सोलहो आना झूठ। तुम लोग अपनी कारगुजारी की धुन में इनसे उलझ पड़े। यह बेचारे तो दूकान से बहुत दूर खड़े थे। न किसी से बोलते थे, न चालते थे। तुमने जबरदस्ती ही इन्हें गरदनी देनी शुरू की। मुझे अपना सौदा बेचना है कि किसी से लड़ना है?

दूसरा सिपाही—लालाजी, हो बड़े हुशियार। मुझसे आग लगवाकर आप अलग हो गये। तुम न कहते तो हमें क्या पड़ी थी कि इन लोगों को धक्के देते? दारोगाजी ने भी हमको ताकीद कर दी थी कि सेठ चन्दूमल की दूकान का विशेष ध्यान रखना। वहाँ कोई वालंटियर न आये। तब हम लोग आये थे। तुम फरियाद न करते, तो दारोगाजी हमारी तैनाती ही क्यों करते?

चन्दूमल—दारोग़ाजी को अपनी कारगुजारी दिखानी होगी। मैं उनके पास क्यों फरियाद करने जाता? सभी लोग कांग्रेस के दुश्मन हो रहे हैं। थानेवाले तो उनके नाम से ही जलते हैं। क्या मैं शिकायत करता तभी तुम्हारी तैनाती करते?

इतने में किसी ने थाने में इत्तिला दी कि चन्दूमल की दूकान पर कान्स्टेबिलों और वालंटियरों में मार-पीट हो गई। कांग्रेस के दफ्तर में भी ख़बर पहुँची। जरा देर में मय सशस्त्र पुलिस के थानेदार और इन्सपेक्टर साहब आ पहुँचे। उधर कांग्रेस के कर्मचारी भी दल-बल सहित दौड़े। समूह और बढ़ा। बार बार जयकार की ध्वनि उठने लगी। कांग्रेस और पुलिस के नेताओं में वाद-विवाद होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालों ने दोनों को हिरासत में लिया और थाने की ओर चले।

पुलिस अधिकारियों के चले जाने के बाद सेठजी ने कांग्रेस के प्रधान से कहा—आज मुझे मालूम हुआ कि ये लोग वालंटियरों पर इतना घोर अत्याचार करते हैं।

प्रधान—तब तो दो वालंटियरों का फँसना व्यर्थ नहीं हुआ। इस विषय में अब तो आपको कोई शंका नहीं है? हम कितने लड़ाकू, कितने द्रोही, कितने शान्तिभंगकारी हैं, यह तो आपको ख़ूब मालूम हो गया होगा?

चन्दूमल—जी हाँ, खूब मालूम हो गया।

प्रधान—आपकी शहादत तो अवश्य ही होगी।

चन्दूमल—होगी तो मैं भी साफ़ साफ़ कह दूँगा, चाहे बने या बिगड़े। पुलिस की सख्ती अब नहीं देखी जाती। मैं भी भ्रम में पड़ा हुआ था।

मन्त्री—पुलिसवाले आपको दबायेंगे बहुत।

चन्दूमल—एक नहीं, सौ दबाव पड़े, मैं झूठ कभी न बोलूँगा। सरकार उस दरबार में साथ न जायगी।

मन्त्री—अब तो हमारी लाज आपके हाथ है।

चन्दूमल—मुझे आप देश का द्रोही न पायेंगे।

यहाँ से प्रधान और मन्त्री तथा अन्य पदाधिकारी चले तो मन्त्रीजी ने कहा—आदमी सच्चा जान पड़ता है।

प्रधान—(सदिग्धभाव से) कल तक आप ही सिद्ध हो जायगा।

(३)

शाम को इन्सपेक्टर-पुलिस ने लाला चन्दूमल को थाने में बुलाया और कहा—आपको शहादत देनी होगी। हम आपकी तरफ़ से बेफ़िक्र हैं।

चन्दूमल बोले—हाजिर हूँ।

इन्स०—वालटियरों ने कान्स्टेबिलों को गालियाँ दीं?

चन्दू०—मैंने नहीं सुनी।

इन्स०—सुनी या नहीं सुनी, यह बहस नहीं है। आपको यह कहना होगा वह सब खरीदारों को धक्के देकर हटाते थे, हाथा-पाई करते थे, मारने की धमकी देते थे, ये सभी बातें कहनी होंगी। दरोग़ाजी, वह बयान लाइए जो मैंने सेठजी के लिए लिखवाया है।

चन्दू०—मुझसे भरी अदालत में झूठ न बोला जायगा। अपने हजारों जाननेवाले अदालत में होंगे। किस-किससे मुँह छिपाऊँ? कहीं निकलने की जगह भी चाहिए?

इन्स०—यह सब बातें निज के मुआमलों के लिए हैं। पोलिटिकल मुआमलों में झूठ सच, शर्म और हया, किसी का भी खयाल नहीं किया जाता।

चन्दू०—मुँह में कालिख लग जायगी।

इन्स०—सरकार की निगाह में इज़्ज़त चौगुनी हो जायगी।

चन्दू०—(सोचकर) जी नहीं, गवाही न दे सकूँगा। कोई और गवाह बना लीजिए।

इन्स०—याद रखिए, यह इज़्जत ख़ाक में मिल जायगी।

चन्दू०—मिल जाय ; मजबूरी है।

इन्स०—अमन-सभा के कोषाध्यक्ष का पद छिन जायगा।

चन्दू०—उससे कौन रोटियाँ चलती हैं ?

इन्स०—बन्दूक का लाइसेंस छिन जायगा।

चन्दू०—छिन जाय; बला से !

इन्स०—इनकम टैक्स की जाँच फिर से होगी।

चन्दू०—जरूर कराइए। यह तो मेरे मन की बात हुई।

इन्स०—बैठने को कुरसी न मिलेगी।

चन्दू०—कुरसी लेकर चाटूँ ? दिवाला तो निकला जा रहा है।

इन्स०—अच्छी बात है। तशरीफ़ ले जाइए। कभी तो आप पंजे में आयेंगे।

(४)

दूसरे दिन इसी समय कांग्रेस के दफ़्तर में कल के लिए कार्यक्रम निश्चित किया जा रहा था। प्रधान ने कहा—सेठ चन्दूमल की दूकान पर धरना देने के लिए दो स्वयसेवक भेजिए।

मन्त्री—मेरे विचार में वहाँ अब धरना देने की कोई ज़रूरत नहीं।

प्रधान—क्यों ? उन्होंने अभी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर तो नहीं किये ?

मन्त्री—हस्ताक्षर नहीं किये, पर हमारे मित्र अवश्य हो गये। पुलिस की तरफ़ से गवाही न देना यही सिद्ध करता है। अधिकारियों का कितना दबाव पड़ा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। यह नैतिक साहस विचारों में परिवर्तन हुए बिना नहीं आ सकता।

प्रधान—हाँ, कुछ परिवर्तन तो अवश्य हुआ है।

मन्त्री—कुछ नहीं, महाशय ! पूरी क्रांति कहना चाहिए। आप जानते हैं, ऐसे मुआमलों में अधिकारियों की अवहेलना करने का क्या अर्थ है ? यह राज-

विद्रोह की घोषणा के समान है! त्याग में सन्यास से इसका महत्व कम नहीं है। आज जिले के सारे हाकिम उनके खून के प्यासे हो रहे हैं। आश्चर्य नहीं कि गवर्नर महोदय को भी इसकी सूचना दी गई हो।

प्रधान—और कुछ नहीं तो उन्हें नियम का पालन करने के लिए प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देना चाहिए था। किसी तरह उन्हें यहाँ बुलाइए। अपनी बात तो रह जाय।

मन्त्री—वह बड़ा आत्माभिमानी है, कभी न आयेगा। बल्कि हम लोगों की ओर से इतना अविश्वास देखकर सम्भव है कि फिर उस दल में मिलने की चेष्टा करने लगे।

प्रधान—अच्छी बात है, आपको उन पर इतना विश्वास हो गया है तो उनकी दूकान को छोड़ दीजिए। तब भी मैं यही कहूँगा कि आपको स्वयं मिलने के बहाने से उन पर निगाह रखनी होगी।

मन्त्री—आप नाहक इतना शक करते हैं।

(५)

नौ बजे सेठ चन्दूमल अपनी दूकान पर आये तो वहाँ एक भी वालंटियर न था। मुख पर मुस्कराहट को झलक आई। मुनीम से बोले—कौड़ी चित पड़ी।

मुनीम—मालूम तो होता है। एक महाशय भी नहीं आये।

चन्दूमल—न आये और न आयेंगे। बाजी अपने हाथ रही। कैसा दाँव खेला—चारों खाने चित।

चन्दू०—आप भी बातें करते हैं? इन्हें दोस्त बनाते कितनी देर लगती है। कहिए, अभी बुलाकर जूतियाँ सीधी करवाऊँ। टके के गुलाम हैं, न किसी के दोस्त, न किसी के दुश्मन। सच कहिए, कैसा चकमा दिया है?

मुनीम—बस, यही जी चाहता है कि आपके हाथ चूम लें। साँप भी मरा और लाठी भी न टूटी। मगर कांग्रेसवाले भी टोह में होंगे।

चन्दूमल—तो मैं भी तो मौजूद हूँ। वह डाल-डाल चलेंगे, तो मैं पात-पात चलूँगा। विलायती कपड़े की गाँठ निकलवाइए और व्यापारियों को देना शुरू कीजिए। एक अठवारे में बेड़ा पार है।

पछतावा

पण्डित दुर्गानाथ जब कालेज से निकले तो उन्हें जीवन-निर्वाह की चिंता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले। वे सोचने लगे—यदि किसी कार्यालय में क्लर्क बन जाऊँ तो अपना निर्वाह हो सकता है, किन्तु सर्व-साधारण से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा। वकालत में प्रविष्ट हो जाऊँ तो दोनों बातें सम्भव हैं, किन्तु अनेकानेक यत्न करने पर भी अपने को पवित्र रखना कठिन होगा। पुलिस-विभाग में दीन पालन और परोपकार के लिए बहुत-से अवसर मिलते रहते हैं; किन्तु एक स्वतन्त्र और सद्विचार-प्रिय मनुष्य के लिए वहाँ की हवा हानिप्रद है। शासन-विभाग में नियम और नीतियों की भरमार रहती है। कितना ही चाहो, पर वहाँ कड़ाई और डाँटडपट से बचे रहना असम्भव है। इसी प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि किसी जमींदार के यहाँ 'मुख्तारआम' बन जाना चाहिए। वेतन तो अवश्य कम मिलेगा; किन्तु दीन-खेतिहारों से रात दिन सम्बन्ध रहेगा, उनके साथ सद्व्यवहार का अवसर मिलेगा। साधारण जीवन-निर्वाह होगा और विचार दृढ़ होंगे।

कुँवर विशालसिंहजी एक सम्पत्तिशाली ज़मींदार थे। प० दुर्गानाथ ने उनके पास जाकर प्रार्थना की कि मुझे भी अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ कीजिये। कुँवर साहब ने इन्हें सिर से पैर तक देखा और कहा—पण्डितजी आपको अपने यहाँ रखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, किन्तु आपके योग्य मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं देख पड़ता।

दुर्गानाथ ने कहा—मेरे लिए किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। मैं हर एक काम कर सकता हूँ। वेतन आप जो कुछ प्रसन्नतापूर्वक देंगे, मैं स्वीकार करूँगा। मैंने तो यह सकल्प कर लिया है कि सिवा किसी रईस के

और किसी की नौकरी नहीं करूँगा। कुँवर विशालसिंहजी ने अभिमान से कहा—रईस की नौकरी नौकरी नहीं, राज्य है। मैं अपने चपरासियों को दो रुपया माहवार देता हूँ और वे तंजेब के अँगरखे पहनकर निकलते हैं। उनके दरवाजों पर घोड़े बँधे हुए हैं। मेरे कारिन्दे पाँच रुपये से अधिक नहीं पाते, किन्तु शादी-विवाह वकीलों के यहाँ करते हैं। न जाने उनकी कमाई में क्या बरकत होती है। बरसों तनख्वाह का हिसाब नहीं करते। कितने ऐसे हैं जो बिना तनख्वाह के कारिन्दगी या चपरासगीरी को तैयार बैठे हैं। परन्तु अपना यह नियम नहीं। समझ लीजिए; मुख्तार-आम अपने इलाके में एक बड़े जमींदार से अधिक रोब रखता है। उसका ठाट बाट और उसकी हुकूमत छोटे-छोटे राजाओं से कम नहीं। जिसे इस नौकरी का चसका लग गया है, उसके सामने तहसीलदारी झूठी है।

पण्डित दुर्गानाथ ने कुँवर साहब की बातों का समर्थन किया, जैसा कि करना उनको सभ्यतानुसार उचित था। वे दुनियादारी में अभी कच्चे थे, बोले—मुझे अब तक किसी रईस की नौकरी का चसका नहीं लगा है। मैं तो अभी कालेज से निकला आता हूँ। और न मैं इन कारणों से नौकरी करना चाहता हूँ जिनका कि आपने वर्णन किया। किन्तु इतने कम वेतन में मेरा निर्वाह न होगा। आपके और नौकर असामियों का गला दबाते होंगे। मुझसे मरते समय तक ऐसे कार्य न होंगे। यदि सच्चे नौकर का सम्मान होना निश्चय है, तो मुझे विश्वास है कि बहुत शीघ्र आप मुझसे प्रसन्न हो जायँगे।

कुँवर साहब ने बड़ी दृढ़ता से कहा—हाँ, यह तो निश्चय है कि सत्यवादी मनुष्य का आदर सब कहीं होता है, किन्तु मेरे यहाँ तनख्वाह अधिक नहीं दी जाती।

जमींदार के इस प्रतिष्ठा शून्य उत्तर को सुनकर पण्डितजी कुछ खिन्न हृदय से बोले—तो फिर मजबूरी है। मेरे द्वारा इस समय कुछ कष्ट आपको पहुँचा हो तो क्षमा कीजिएगा। किन्तु मैं आपसे कह सकता हूँ कि ईमानदार आदमी आपको सस्ता न मिलेगा।

कुँवर साहब ने मन में सोचा कि मेरे यहाँ सदा अदालत कचहरी लगी ही रहती है, सैकड़ों रुपये तो डिगरी और तजवीजों तथा और और अँगरेजी

काग़ज़ों के अनुवाद में लग जाते हैं। एक अँगरेजी का पूर्ण पण्डित सहज ही में मिल रहा है। सो भी अधिक तनख्वाह नहीं देनी पड़ेगी। इसे रख लेना ही उचित है। लेकिन पण्डितजी की बात का उत्तर देना आवश्यक था, अतः कहा—महाशय, सत्यवादी मनुष्य को कितना ही कम वेतन दिया जाये, वह सत्य को न छोड़ेगा और न अधिक वेतन पाने से बेईमान सच्चा बन सकता है। सच्चाई का रुपये से कुछ सम्बन्ध नहीं। मैंने ईमानदार कुली देखे हैं और बेईमान बड़े बड़े धनाढ्य पुरुष। परन्तु अच्छा, आप एक सज्जन पुरुष हैं। आप मेरे यहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहिए। मैं आपको एक इलाके का अधिकारी बना दूँगा और आपका काम देखकर तरक्की भी कर दूँगा।

दुर्गानाथजी ने २०) मासिक पर रहना स्वीकार कर लिया। यहाँ से कोई ढाई मील पर कई गाँवों का एक इलाका चाँदपार के नाम से विख्यात था। पण्डितजी इसी इलाके के कारिन्दे नियत हुए।

(२)

पण्डित दुर्गानाथ ने चाँदपार के इलाके में पहुँचकर अपने निवासस्थान को देखा तो उन्होंने कुँवर साहब के कथन को बिलकुल सत्य पाया। यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख सम्पत्ति का घर है। रहने के लिए सुन्दर बँगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था, सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर टाँगन, सुख ठाट-बाट के सारे सामान उपस्थित। किन्तु इस प्रकार की सजावट और विलास की सामग्री देखकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न हुई। क्योंकि इसी सजे हुए बँगले के चारों ओर किसानों के झोपड़े थे। फूस के घरों में मिट्टी के बर्तनों के सिवा और सामान ही क्या था! वहाँ के लोगों में वह बँगला कोट के नाम से विख्यात था। लड़के उसे भय की दृष्टि से देखते। उसके चबूतरे पर पैर रखने का उन्हें साहस न पड़ता। इस दीनता के बीच में इतना बड़ा ऐश्वर्यपुक्त दृश्य उनके लिए अत्यन्त हृदय-विदारक था। किसानों की यह दशा थी कि सामने आते हुए थर-थर काँपते थे। चपरासी लोग उनसे ऐसा बर्ताव करते थे कि पशुओं के साथ भी वैसा नहीं होता।

पहले ही दिन कई सौ किसानों ने पण्डितजी को अनेक प्रकार के पदार्थ

भेंट के रूप में उपस्थित किये, किन्तु जब वे सब लौटा दिये गये तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। किसान प्रसन्न हुए, किन्तु चपरासियों का रक्त उबलने लगा। नाई और कहार खिदमत को आये, किन्तु लौटा दिये गये। अहीरों के घरों से दूध से भरा हुआ मटका आया, वह भी वापस हुआ। तमोली एक ढोली पान लाया, किन्तु वह भी स्वीकार न हुआ। असामी आपस में कहने लगे कि कोई धर्मात्मा पुरुष आये हैं। परन्तु चपरासियों को तो ये नयी बातें असह्य हो गयीं। उन्होंने कहा—हुजूर, अगर आपको ये चीजें पसन्द न हों तो न लें, मगर रस्म तो न मिटायें। अगर कोई दूसरा आदमी यहाँ आयेगा तो उसे नये सिर से यह रस्म बाँधने में कितनी दिक्कत होगी? यह सब सुनकर पण्डितजी ने केवल यही उत्तर दिया—जिसके सिर पर पड़ेगा वह भुगत लेगा। मुझे इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? एक चपरासी ने साहस बाँधकर कहा—इन असामियों को आप जितना ग़रीब समझते हैं उतने गरीब ये नहीं हैं। इनका ढंग ही ऐसा है। भेष बनाये रहते हैं। देखने में ऐसे सीधे सादे मानो बेसींग की गाय है, लेकिन सच मानिए, इनमें का एक एक आदमी हाईकोरट का वकील है।

चपरासियों के इस वाद-विवाद का प्रभाव पण्डितजी पर कुछ न हुआ। उन्होंने प्रत्येक गृहस्थ से दयालुता और भाईचारे का आचरण करना आरम्भ किया। सवेरे से आठ बजे तक तो गरीबों को बिना दाम औषधियाँ देते, फिर हिसाब-किताब का काम देखते। उनके सदाचरण ने असामियों को मोह लिया। मालगुजारी का रुपया, जिसके लिए प्रतिवर्ष कुरकी तथा नीलाम की आवश्यकता होती थी, इस वर्ष एक इशारे पर वसूल हो गया। किसानों ने अपने भाग सराहे और वे मनाने लगे कि हमारे सरकार की दिनों-दिन बढ़ती हो।

(३)

कुँवर विशालसिंह अपनी प्रजा के पालन पोषण पर बहुत ध्यान रखते थे। वे बीज के लिए अनाज देते और मजूरी और बैलों के लिए रुपये। फसल कटने पर एक का डेढ़ वसूल कर लेते! चाँदपार के कितने ही असामी इनके ऋणी थे। चैत का महीना था। फसल कट-कटकर खलियानों में आ रही थी। खलियान में से कुछ नाज घर में आने लगा था। इसी अवसर पर कुँवर

साहब ने चाँदपारवालों को बुलाया और कहा—हमारा नाज और रुपया बेबाक कर दो। यह चैत का महीना है। जब तक कड़ाई न की जाय, तुम लोग डकार नहीं लेते। इस तरह काम नहीं चलेगा। बूढ़े मलूका ने कहा—सरकार, भला असामी कभी अपने मालिक से बेबाक हो सकता है। कुछ अभी ले लिया जाय, कुछ फिर दे देंगे। हमारी गर्दन तो सरकार की मुट्ठी में है।

कुँवर साहब—आज कौड़ी-कौड़ी चुकाकर यहाँ से उठने पाओगे। तुम लोग हमेशा इसी तरह हीला हवाला किया करते हो।

मलूका (विनय के साथ)—हमारा पेट है, सरकार की रोटियाँ हैं, हमको और क्या चाहिए ? जो कु; उपज है वह सब सरकार ही की है।

कुँवर साहब से मलूका की यह वाचालता सही न गयी। उन्हें इस पर क्रोध आ गया; राजा-रईस ठहरे। उन्होंने बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाई और कहा—कोई है ? ज़रा इस बुड्ढे का कान तो गरम करो, यह बहुत बढ़ बढ़कर बातें करता है। उन्होंने तो कदाचित् धमकाने की इच्छा से कहा, किन्तु चपरासी क़ादिर खाँ ने लपककर बूढ़े की गर्दन पकड़ी और ऐसा धक्का दिया कि बेचारा ज़मीन पर जा गिरा। मलूका के दो जवान बेटे वहाँ चुपचाप खड़े थे। बाप की ऐसी दशा देखकर उनका रक्त गर्म हो उठा। वे दोनों झपटे और क़ादिर खाँ पर टूट पड़े। धमाधम शब्द सुनाई पड़ने लगा। ख़ाँ साहब का पानी उतर गया, साफ़ा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े-टुकड़े हो गये। किन्तु जवान चलती रही।

मलूका ने देखा, बात बिगड़ गयी। वह उठा और क़ादिर ख़ाँ को छुड़ाकर अपने लड़कों को गालियाँ देने लगा। जब लड़कों ने उसी को डाँटा तब दौड़कर कुँवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा। पर बात यथार्थ में बिगड़ गयी थी। बूढ़े के इस विनीत भाव का कुछ प्रभाव न हुआ। कुँवर साहब की आँखों से मानो आग के अँगारे निकल रहे थे। वे बोले—बेईमान, आँखों के सामने से दूर हो जा। नहीं तो तेरा ख़ून पी जाऊँगा।

बूढ़े के शरीर में रक्त तो अब वैसा न रहा था, किन्तु कुछ गर्मी अवश्य थी। समझता था कि ये कुछ न्याय करेंगे, परन्तु यह फटकार सुनकर बोला—सरकार, बुढ़ापे में आपके दरवाज़े पर पानी उतर गया और तिस पर सरकार

हमी को डाँटते हैं। कुँवर साहब ने कहा—तुम्हारी इज्जत अभी क्या उतरी है, अब उतरेगी।

दोनों लड़के सरोष बोले—सरकार अपना रुपया लेंगे कि किसी की इज्जत लेंगे?

कुँवर साहब (ऐंठकर)—रुपया पीछे लेंगे, पहले देखेंगे कि तुम्हारी इज्जत कितनी है!

(४)

चाँदपार के किसान अपने गाँव पर पहुँचकर पण्डित दुर्गानाथ से अपनी रामकहानी कह ही रहे थे कि कुँवर साहब का दूत पहुँचा और खबर दी कि सरकार ने आपको अभी-अभी बुलाया है।

दुर्गानाथ ने असामियों को परितोष दिया और आप घोड़े पर सवार होकर दरबार में हाजिर हुए।

कुँवर साहब की आँखें लाल थीं। मुख की आकृति भयकर हो रही थी। कई मुख्तार और चपरासी बैठे हुए आग पर तेल डाल रहे थे। पण्डितजी को देखते ही कुँवर साहब बोले—चाँदपारवालों की हरकत आपने देखी?

पण्डितजी ने नम्र भाव से कहा—जी हाँ, सुनकर बहुत शोक हुआ। ये तो ऐसे सरकश न थे।

कुँवर साहब—यह सब आप ही के आगमन का फल है। आप अभी स्कूल के लड़के हैं। आप क्या जानें कि ससार में कैसे रहना होता है। यदि आपका बर्ताव असामियों के साथ ऐसा ही रहा तो फिर मैं जमींदारी कर चुका। यह सब आपकी करनी है। मैंने इसी दरवाज़े पर असामियों को बाँध-बाँधकर उलटे लटका दिया है और किसी ने चूँ तक न की। आज उनका यह साहस कि मेरे ही आदमी पर हाथ चलायें।

दुर्गानाथ (कुछ दबते हुए)—महाशय, इसमें मेरा क्या अपराध? मैंने तो जब से सुना है तभी से स्वय सोच में पड़ा हूँ।

कुँवर साहब—आपका अपराध नहीं तो किसका है? आप ही ने तो इनको सिर चढ़ाया। बेगार बद कर दी, आप ही उनके साथ भाईचारे का बर्ताव करते हैं, उनके साथ हँसी-मजाक करते हैं। ये छोटे आदमी इस बर्ताव की कदर

क्या जानें, किताबी बातें स्कूलों ही के लिए हैं। दुनिया के व्यवहार का कानून दूसरा है। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब मैं चाहता हूँ कि इन बदमाशों को इस सरकशी का मजा चखाया जाय। आसामियों को आपने मालगुज़ारी की रसीदें तो नहीं दी हैं?

दुर्गानाथ (कुछ डरते हुए)—जी नहीं, रसीदें तैयार हैं, केवल आपके हस्ताक्षरों की देर है।

कुँवर साहब (कुछ संतुष्ट होकर)—यह बहुत अच्छा हुआ। शकुन अच्छे हैं। अब आप इन रसीदों को चिराग़अली के सिपुर्द कीजिए। इन लोगों पर बकाया लगान की नालिश की जायगी, फसल नीलाम करा लूँगा। जब भूखे मरेंगे तब सूझेगी? जो रुपया अब तक वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए। आपको केवल यह गवाही देनी होगी कि यह रुपया मालगुजारी के मद में नहीं, कर्ज़ के मद में वसूल हुआ है। बस!

दुर्गानाथ चिन्तित हो गये। सोचने लगे कि क्या यहाँ भी उसी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा जिससे बचने के लिए इतने सोच-विचार के बाद, इस शान्ति कुटीर को ग्रहण किया था? क्या जान-बूझकर इन ग़रीबों की गर्दन पर छुरी फेरूँ, इसलिए कि मेरी नौकरी बनी रहे? नहीं, यह मुझसे न होगा। बोले—क्या मेरी शहादत बिना काम न चलेगा?

कुँवर साहब (क्रोध से)—क्या इतना कहने में भी आपको कोई उज्र है?

दुर्गानाथ (द्विविधा में पड़े हुए)—जी, यों तो मैंने आपका नमक खाया है। आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना मुझे उचित है, किन्तु न्यायालय में मैंने गवाही नहीं दी है। सम्भव है कि यह कार्य मुझसे न हो सके, अतः मुझे तो क्षमा ही कर दिया जाय।

कुँवर साहब (शासन के ढंग से)—यह काम आपको करना पड़ेगा, इसमें 'हाँ-नहीं' की कोई आवश्यकता नहीं। आग आपने लगाई है। बुझायेगा कौन?

दुर्गानाथ (दृढ़ता के साथ)—मैं झूठ कदापि नहीं बोल सकता, और न इस प्रकार शहादत दे सकता हूँ!

कुँवर साहब (कोमल शब्दों में)—कृपानिधान, यह झूठ नहीं है। मैंने

झूठ का व्यापार नहीं किया है। मैं यह नहीं कहता कि आप रुपये का वसूल होना अस्वीकार कर दीजिये। जब असामी मेरे ऋणी हैं, तो मुझे अधिकार है कि चाहे रुपया ऋण की मद में वसूल करूँ या मालगुजारी की मद में। यदि इतनी सी बात को आप झूठ समझते हैं तो आपकी जबरदस्ती है। अभी आपने संसार देखा नहीं। ऐसी सच्चाई के लिए संसार में स्थान नहीं। आप मेरे यहाँ नौकरी कर रहे हैं। इस सेवक-धर्म पर विचार कीजिए। आप शिक्षित और होनहार पुरुष हैं। अभी आपको संसार में बहुत दिन तक रहना है और बहुत काम करना है। अभी से आप यह धर्म और सत्यता धारण करेंगे तो अपने जीवन में आपको आपत्ति और निराशा के सिवा और कुछ प्राप्त न होगा। सत्यप्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, किन्तु उसकी भी सीमा है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्!' अब अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। यह अवसर ऐसा ही है।

कुँवर साहब पुराने खुर्राट थे। इस फेंकनैत से युवक खिलाड़ी हार गया।

(५)

इस घटना के तीसरे दिन चाँदपार के आसामियों पर बकाया लगान की नालिश हुई। समन आये। घर-घर उदासी छा गयी। समन क्या थे, यम के दूत थे। देवी-देवताओं की मिन्नतें होने लगीं। स्त्रियाँ अपने घरवालों को कोसने लगीं और पुरुष अपने भाग्य को। नियत तारीख के दिन गाँव के गँवार कन्धे पर लोटा डोर रखे और अँगोछे में चबेना बाँधे कचहरी को चले। सैकड़ों स्त्रियाँ और बालक रोते हुए उनके पीछे-पीछे जाते थे। मानों अब वे फिर उनसे न मिलेंगे।

पण्डित दुर्गानाथ के लिए ये तीन दिन कठिन परीक्षा के थे। एक ओर कुँवर साहब की प्रभावशालिनी बातें, दूसरी ओर किसानों की हाय-हाय, परन्तु विचार सागर में तीन दिन निमग्न रहने के पश्चात् उन्हें धरती का सहारा मिल गया। उनकी आत्मा ने कहा—यह पहली परीक्षा है। यदि इसमें अनुत्तीर्ण रहे तो फिर आत्मिक दुर्बलता ही हाथ रह जायगी। निदान निश्चय हो गया कि मैं अपने लाभ के लिए इतने गरीबों को हानि न पहुँचाऊँगा।

दस बजे दिन का समय था। न्यायालय के सामने मेला-सा लगा हुआ

था। जहाँ-तहाँ श्यामवस्त्राच्छादित देवताओं की पूजा हो रही थी। चाँदपार के किसान झुण्ड के झुण्ड एक पेड़ के नीचे आकर बैठे। उनसे कुछ दूर पर कुँवर साहब के मुख्तार आम, सिपाहियों और गवाहों की भीड़ थी। ये लोग अत्यन्त विनोद में थे। जिस प्रकार मछलियाँ पानी में पहुँचकर कलोलें करती हैं, उसी भाँति ये लोग भी आनन्द में चूर थे। कोई पान खा रहा था। कोई हलवाई की दूकान से पूरियों की पत्तल लिये चला आता था। उधर बेचारे किसान पेड़ के नीचे चुपचाप उदास बैठे थे कि आज न जाने क्या होगा, कौन आफ़त आयेगी! भगवान् का भरोसा है। मुक़दमे की पेशी हुई। कुँवर साहब की ओर से गवाह गवाही देने लगे कि असामी बड़े सरकश हैं। जब लगान माँगा जाता है तो लड़ाई-झगड़े पर तैयार हो जाते हैं। अबकी इन्होंने एक कौड़ी भी नहीं दी।

क़ादिर ख़ाँ ने रोकर अपने सिर की चोट दिखाई। सबसे पीछे पण्डित दुर्गानाथ की पुकार हुई। उन्हीं के बयान पर निपटारा होना था। वकील साहब ने उन्हें ख़ूब तोते की भाँति पढ़ा रखा था, किन्तु उनके मुख से पहला वाक्य निकला ही था कि मैजिस्ट्रेट ने उनकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वकील साहब बगलें झाँकने लगे। मुख्तार-आम ने उनकी ओर घूरकर देखा। अहलमद-पेशकार आदि सब के सब उनकी ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे।

न्यायाधीश ने तीव्र स्वर से कहा—तुम जानते हो कि मैजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो?

दुर्गानाथ (दृढ़तापूर्वक)—जी हाँ, भलीभाँति जानता हूँ।

न्याया॰—तुम्हारे ऊपर असत्य भाषण का अभियोग लगाया जा सकता है।

दुर्गानाथ—अवश्य, यदि मेरा कथन झूठा हो।

वकील ने कहा—जान पड़ता है, किसानों के दूध, घी और भेंट आदि ने यह काया-पलट कर दी है। और न्यायाधीश की ओर सार्थक दृष्टि से देखा।

दुर्गानाथ—आपको इन वस्तुओं का अधिक तजुर्बा होगा। मुझे तो अपनी रूखी रोटियाँ ही अधिक प्यारी हैं।

न्यायाधीश—तो इन असामियों ने सब रुपया बेबाक़ कर दिया है?

दुर्गानाथ—जी हाँ, इनके ज़िम्मे लगान की एक कौड़ी भी बाक़ी नहीं है।

न्यायाधीश—रसीदें क्यों नहीं दीं ?

दुर्गानाथ—मेरे मालिक की आज्ञा।

(६)

मैजिस्ट्रेट ने नालिशें डिसमिस कर दीं। कुँवर साहब को ज्यों ही इस पराजय की खबर मिली, उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई। उन्होंने पण्डित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे—नमकहराम, विश्वासघाती, दुष्ट। मैंने उसका कितना आदर किया, किन्तु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है ! अन्त में विश्वासघात कर ही गया। यह अच्छा हुआ कि प० दुर्गानाथ मैजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही मुख्तारआम को कुंजियाँ और काग़जपत्र सुपुर्द कर चलते हुए। नहीं तो उन्हें इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता पड़ती।

कुँवर साहब का लेन-देन विशेष अधिक था। चाँदपार बहुत बड़ा इलाका था। वहाँ के असामियों पर कई सौ रुपये बाकी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अब रुपया डूब जायगा। वसूल होने की कोई आशा नहीं। इस पण्डित ने असामियों को बिलकुल बिगाड़ दिया। अब उन्हें मेरा क्या डर ? अपने कारिन्दों और मन्त्रियों से सम्मति ली। उन्होंने भी यही कहा—अब वसूल होने की कोई सूरत नहीं। कागजात न्यायालय में पेश किये जायँ तो इनका टैक्स लग जायगा। किन्तु रुपया वसूल होना कठिन है। उजरदारियाँ होंगी। कहीं हिसाब में कोई भूल निकल आई तो रही-सही साख भी जाती रहेगी और दूसरे इलाकों का रुपया भी मारा जायगा।

दूसरे दिन कुँवर साहब पूजा-पाठ से निश्चिन्त हो अपने चौपाल में बैठे, तो क्या देखते हैं कि चाँदपार के असामी झुण्ड के-झुण्ड चले आ रहे हैं। उन्हें यह देखकर भय हुआ कि कहीं ये सब कुछ उपद्रव तो न करेंगे, किन्तु किसी के हाथ में एक छड़ी तक न थी। मलूका आगे-आगे आता था। उसने दूर ही से झुककर वन्दना की। ठाकुर साहब को ऐसा आश्चर्य हुआ, मानों वे कोई स्वप्न देख रहे हों।

(७)

मलूका ने सामने आकर विनयपूर्वक कहा—सरकार, हम लोगों से जो

कुछ भूल-चूक हुई उसे क्षमा किया जाय। हम लोग सब हजूर के चाकर हैं ; सरकार ने हमको पाला-पोसा है। अब भी हमारे ऊपर यही निगाह रहे।

कुँवर साहब का उत्साह बढ़ा। समझे कि पण्डित के चले जाने से इन सबों के होश ठिकाने हुए हैं। अब किसका सहारा लेंगे। उसी खुर्राट ने इन सबों को बहका दिया था। कड़ककर बोले—वे तुम्हारे सहायक पण्डित कहाँ गये? वे आ जाते तो जरा उनकी खबर ली जाती।

यह सुनकर मलूका की आँखों में आँसू भर आये। वह बोला—सरकार, उनको कुछ न कहें। वे आदमी नहीं, देवता थे। जवानी की सौगन्ध है, जो उन्होंने आपकी कोई निन्दा की हो। वे बेचारे तो हम लोगों को बार-बार समझाते थे कि देखो, मालिक से बिगाड़ करना अच्छी बात नहीं। हमसे कभी एक लोटा पानी के रवादार नहीं हुए। चलते-चलते हमसे कह गये कि मालिक का जो कुछ तुम्हारे जिम्मे निकले, चुका देना। आप हमारे मालिक हैं। हमने आपका बहुत खाया-पिया है। अब हमारी यही विनती सरकार से है कि हमारा हिसाब-किताब देखकर जो कुछ हमारे ऊपर निकले, बताया जाय। हम एक-एक कौड़ी चुका देंगे, तब पानी पीयेंगे।

कुँवर साहब प्रसन्न हो गये। इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दण्ड दिये। और आज ये सब आप-से-आप सारा हिसाब किताब साफ़ करने आये हैं। यह क्या जादू है!

मुख्तारआम साहब ने कागज़ात खोले और असामियों ने अपनी-अपनी पोटलियाँ। जिसके ज़िम्मे जितना निकला, बे-कान-पूँछ हिलाये उतना द्रव्य सामने रख दिया। देखते-देखते सामने रुपयों का ढेर लग गया। छः सौ रुपया बात-की-बात में वसूल हो गया। किसी के ज़िम्मे कुछ बाकी न रहा। यह सत्यता और न्याय की विजय थी। कठोरता और निर्दयता से जो काम कभी न हुआ, वह धर्म और न्याय ने पूरा कर दिखाया।

जबसे ये लोग मुक़दमा जीतकर आये तभी से उनको रुपया चुकाने की धुन सवार थी। पण्डितजी को वे यथार्थ में देवता समझते थे। रुपया चुका देने के लिए उनकी विशेष आज्ञा थी। किसी ने बैल, किसी ने गहने बन्धक रखे।

यह सब कुछ सहन किया, परन्तु पण्डितजी की बात न टाली। कुँवर साहब के मन में पण्डितजी के प्रति जो बुरे विचार थे, सब मिट गये। उन्होंने सदा से कठोरता से काम लेना सीखा था। उन्हीं नियमों पर वे चलते थे। न्याय तथा सत्यता पर उनका विश्वास न था। किन्तु आज उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा कि सत्यता और कोमलता में बहुत बड़ी शक्ति है।

ये असामी मेरे हाथ से निकल गये थे। मैं इनका क्या बिगाड़ सकता था! अवश्य वह पण्डित सच्चा और धर्मात्मा पुरुष था। उसमें दूरदर्शिता न हो, काल-ज्ञान न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह निःस्पृह और सच्चा पुरुष था।

(८)

कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता। हरी दूब भी किसी समय अशर्फियों के मोल बिक जाती है। कुँवर साहब का काम एक निःस्पृह मनुष्य के बिना रुक नहीं सकता था। अतएव पण्डितजी के इस सर्वोत्तम कार्य की प्रशंसा किसी कवि की कविता से अधिक न हुई। चाँदपार के असामियों ने तो अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया, किन्तु अन्य इलाकोंवाले असामी उसी पुराने ढंग से चलते थे। उन इलाकों में रगड़-झगड़ सदैव मची रहती थी। अदालत, मार पीट, डाँट-डपट सदा लगी रहती थी। किन्तु ये सब तो जमींदार के शृंगार हैं। बिना इन सब बातों के जमींदारी कैसी? क्या दिन भर बैठे बैठे मक्खियाँ मारें?

कुँवर साहब इसी प्रकार पुराने ढंग से अपना प्रबंध सँभालते जाते थे। कई वर्ष व्यतीत हो गये। कुँवर साहब का कारोबार दिनों-दिन चमकता ही गया, यद्यपि उन्होंने पाँच लड़कियों के विवाह बड़ी धूम धाम के साथ किये, परन्तु तिस पर भी उनकी बढ़ती में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ, शारीरिक शक्तियाँ अवश्य कुछ-कुछ ढीली पड़ती गयीं। बड़ी भारी चिन्ता यही थी कि इतनी बड़ी सम्पत्ति और ऐश्वर्य का भोगनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ। भानजे, भतीजे और नवासे इस रियासत पर दाँत लगाये हुए थे।

कुँवर साहब का मन अब इन सांसारिक झगड़ों से फिरता जाता था। आखिर यह रोना-धोना किसके लिए? अब उनके जीवन-नियम में एक

परिवर्तन हुआ। द्वार पर कभी-कभी साधु-सन्त धूनी रमाये हुए देख पड़ते। स्वय भगवद्गीता और विष्णुपुराण पढ़ते। पारलौकिक चिन्ता अब नित्य रहने लगी। परमात्मा की कृपा और साधु सन्तों के आशीर्वाद से बुढ़ापे में उनको एक लड़का पैदा हुआ। जीवन की आशायें सफल हुईं; पर दुर्भाग्यवश पुत्र के जन्म ही से कुँवर साहब शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे। सदा वैद्यों और डाक्टरों का ताँता लगा रहता था; लेकिन दवाओं का उलटा प्रभाव पड़ता। ज्यों त्यों करके उन्होंने ढाई वर्ष बिताये। अन्त में उनकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। उन्हें मालूम हो गया कि अब संसार से नाता टूट जायगा। अब चिन्ता ने और घर दबाया—यह सारा माल-असबाब, इतनी बड़ी सम्पत्ति किस पर छोड़ जाऊँ? मन की इच्छायें मन ही में रह गयी। लड़के का विवाह भी न देख सका। उसकी तोतली बातें सुनने का भी सौभाग्य न हुआ। हाय, अब इस कलेजे के टुकड़े को किसे सौंपूँ, जो इसे अपना पुत्र समझे। लड़के की माँ स्त्री-जाति, न कुछ जाने, न समझे। उससे कारबार सँभलना कठिन है। मुख्तारआम, गुमाश्ते, कारिन्दे कितने हैं, परन्तु सब के-सब स्वार्थी—विश्वासघाती। एक भी ऐसा पुरुष नहीं जिस पर मेरा विश्वास जमे! कोर्ट ऑफ् वार्ड्स के सुपुर्द करूँ तो वहाँ भी वे ही सब आपत्तियाँ। कोई इधर दबायेगा, कोई उधर। अनाथ बालक को कौन पूछेगा? हाय, मैंने आदमी नहीं पहचाना! मुझे हीरा मिल गया था, मैंने उसे ठीकरा समझा! कैसा सच्चा, कैसा वीर, दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष था! यदि वह कहीं मिल जाये तो इस अनाथ बालक के दिन फिर जायँ। उसके हृदय में करुणा है, दया है। वह अनाथ बालक पर तरस खायगा। हा! क्या उसके दर्शन मिलेंगे? मैं उस देवता के चरण धोकर माथे पर चढ़ाता। आँसुओं से उसके चरण धोता। वही यदि हाथ लगाये तो यह मेरी डूबती नाव पार लगे।

(६)

ठाकुर साहब की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई। अब अन्तकाल आ पहुँचा। उन्हें पण्डित दुर्गानाथ की रट लगी हुई थी। बच्चे का मुँह देखते और कलेजे से एक आह निकल जाती। बार-बार पछताते और हाथ मलते। हाय! उस देवता को कहाँ पाऊँ? जो कोई उसके दर्शन करा दे, आधी

जायदाद उसके न्योछावर कर दूँ—प्यारे पण्डित ! मेरे अपराध क्षमा करो। मैं अन्धा था, अज्ञान था। अब मेरी बाँह पकड़ो। मुझे डूबने से बचाओ। इस अनाथ बालक पर तरस खाओ।

हितार्थी और सम्बन्धियों का समूह सामने खड़ा था। कुँवर साहब ने उनकी ओर अधखुली आँखों से देखा। सच्चा हितैषी कहीं देख न पड़ा। सबके चेहरे पर स्वार्थ की झलक थी। निराशा से आँखें मूँद लीं। उनकी स्त्री फूट-फूटकर रो रही थी। निदान उसे लज्जा त्यागनी पड़ी। वह रोती हुई पास जाकर बोली—प्राणनाथ, मुझे और इस असहाय बालक को किस पर छोड़े जाते हो ?

कुँवर साहब ने धीरे से कहा—पण्डित दुर्गानाथ पर। वे जल्द आयेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनके भेंट कर दिया। यह अन्तिम वसीयत है।



आप-बीती

प्रायः अधिकांश साहित्य सेवियों के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब पाठकगण उनके पास श्रद्धा पूर्ण पत्र भेजने लगते हैं। कोई उनकी रचना-शैली की प्रशंसा करता है, कोई उनके सद् विचारों पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनों से यह सौभाग्य प्राप्त है। ऐसे पत्रों को पढ़कर उसका हृदय कितना गद्‌गद् हो जाता है, इसे किसी साहित्य सेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कंबल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरों में डूब जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकड़ी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलों और मच्छड़ों ने रात-भर कैसे नींद हराम कर दी थी। 'मैं भी कुछ हूँ' यह अहंकार उसे एक क्षण के लिए उन्मत्त बना देता है। पिछले साल, सावन के महीने में मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी क्षुद्र रचनाओं की दिल खोलकर दाद दी गयी थी।

पत्र प्रेषक महोदय स्वयं एक अच्छे कवि थे। मैं उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढ़कर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरंग में जो कुछ लिख गया, इस समय याद नहीं। इतना ज़रूर याद है कि पत्र आदि से अंत तक प्रेम के उद्‌गारों से भरा हुआ था। मैंने कभी कविता नहीं की और न कोई गद्य काव्य ही लिखा; पर भाषा को जितना सँवार सकता था, उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढ़ा तो कविता का आनंद आया। सारा पत्र भाव लालित्य से परिपूर्ण था। पाँचवें दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कहीं अधिक मर्मस्पर्शी था। 'प्यारे भैया!' कहकर मुझे संबोधित किया गया था; मेरी रचनाओं की सूची और प्रकाशकों के नाम ठिकाने पूछे गये थे। अंत में यह शुभ समाचार था कि "मेरी पत्नीजी को आपके ऊपर बड़ी श्रद्धा है। वह बड़े प्रेम से आपकी रचनाओं को पढ़ती हैं। वही पूछ रही हैं कि आपका विवाह कहाँ हुआ है। आपकी संतानें कितनी हैं तथा आपका

कोई फोटो भी है ? हो तो कृपया भेज दीजिए।" मेरी जन्म-भूमि और वंशावली का पता भी पूछा गया था। इस पत्र, विशेषत उसके अंतिम समाचार ने मुझे पुलकित कर दिया।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से, चाहे वह प्रतिनिधिद्वारा ही क्यों न हो, अपनी प्रशंसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गरूर का नशा छा गया। धन्य है भगवान्! अब रमणियाँ भी मेरे कृत्य की सराहना करने लगीं! मैंने तुरंत उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे सब खर्च कर दिये। मैत्री और बंधुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजों का ऐसा कीर्ति-गान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक जमींदार के कारिंदे थे, मैंने उन्हें एक बड़ी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को, जो एक दफ्तर में क्लर्क थे, उसे दफ्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और काश्तकारी को जमींदारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओं की सख्या तो न बढ़ा सका, पर उनके महत्व, आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दों में किया, जो नम्रता की ओट में अपने गर्व को छिपाते हैं। कौन नहीं जानता कि बहुधा 'तुच्छ' का अर्थ उसे विपरीत होता है, और 'दीन' के माने कुछ और ही समझे जाते हैं। स्पष्ट से अपनी बड़ाई करना उच्छृङ्खलता है, मगर साकेतिक शब्दों से आप इसी काम को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। खैर, मेरा पत्र समाप्त हो गया और तत्क्षण लेटरबक्स के पेट में पहुँच गया।

इसके बाद दो सप्ताह तक कोई पत्र न आया। मैंने उस पत्र में अपनी गृहिणी की ओर से भी दो चार समयोचित बातें लिख दी थीं। आशा थी, घनिष्ठता और भी घनिष्ठ होगी। कहीं कविता में मेरी प्रशसा हो जाय, तो क्या पूछना! फिर तो साहित्य ससार में मैं-ही-मैं नज़र आऊँ! इस चुप्पी से कुछ निराशा होने लगी, लेकिन इस डर से कि कहीं कविजी मुझे मतलबी अथवा Sentimental न समझ लें, कोई पत्र न लिख सका।

आश्विन का महीना था, और तीसरा पहर। रामलीला की धूम मची हुई थी। मैं अपने एक मित्र के घर चला गया था। ताश की बाजी हो रही थी। सहसा एक महाशय मेरा नाम पूछते हुए आये और मेरे पास की कुरसी पर

बैठ गये। और मेरा उनसे कभी का परिचय न था। सोच रहा था, यह कौन आदमी है और यहाँ कैसे आया? यार लोग उन महाशय की ओर देखकर आपस में इशारेबाज़ियाँ कर रहे थे। उनके आकार-प्रकार में कुछ नवीनता अवश्य थी। श्यामवर्ण नाटा डील, मुख पर चेचक के दाग, नंगा सिर, बाल सँवारे हुए, सिर्फ़ सादी कमीज, गले में फूलों की एक माला, पैर में फुल-बूट और हाथ में एक मोटी सी पुस्तक!

मैंने विस्मित होकर नाम पूछा।

उत्तर मिला—मुझे उमापतिनारायण कहते हैं।

मैं उठकर उनके गले से लिपट गया। यह वही कवि महोदय थे, जिनके कई प्रेम पत्र मुझे मिल चुके थे। कुशल समाचार पूछा। पान इलायची से खातिर की। फिर पूछा—आपका आना कैसे हुआ?

उन्होंने कहा—मकान पर चलिए, तो सब वृत्तात कहूँगा। मैं आपके घर गया था। वहाँ मालूम हुआ, आप यहाँ हैं। पूछता हुआ चला आया।

मैं उमापतिजी के साथ घर चलने को उठ खड़ा हुआ। जब वह कमरे के बाहर निकल गये, तो मेरे मित्र ने पूछा—यह कौन साहब थे?

मैं—मेरे एक नये दोस्त हैं।

मित्र—ज़रा इनसे होशियार रहिएगा। मुझे तो उचक्के से मालूम होते हैं।

मैं—आपका अनुमान ग़लत है। आप हमेशा आदमी को उसकी सज धज से परखा करते हैं। पर मनुष्य कपड़ों में नहीं, हृदय में रहता है।

मित्र—खैर, ये रहस्य की बातें तो आप जानें; मैं आपको आगाह किये देता हूँ।

मैंने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। उमापतिजी के साथ घर पर आया। बाजार से भोजन मँगवाया। फिर बातें होने लगीं। उन्होंने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनायीं। स्वर बहुत सरस और मधुर था।

कविताएँ तो मेरी समझ में खाक न आयीं, पर मैंने तारीफों के पुल बाँध दिये। झूम-झूमकर वाह, वाह! करने लगा; जैसे मुझसे बढ़कर कोई काव्य-रसिक संसार में न होगा। संध्या को हम रामलीला देखने गये। लौटकर उन्हें फिर भोजन कराया। अब उन्होंने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया। इस समय

वह अपनी पत्नी को लेने के लिए कानपुर जा रहे हैं। उनका मकान कानपुर ही में है। उनका विचार है कि एक मासिक पत्रिका निकालें। उनकी कविताओं के लिए एक प्रकाशक १०००) देता है, पर उनकी इच्छा तो यह है कि उन्हें पहले पत्रिका में क्रमशः निकालकर फिर अपनी ही लागत से पुस्तकाकार छपवायें। कानपुर में उनकी जमींदारी भी है, पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जमींदारी से उन्हें घृणा है। उनकी स्त्री एक कन्या विद्यालय में प्रधानाध्यापिका हैं। आधी रात तक बातें होती रहीं। अब उनमें से अधिकांश याद नहीं हैं। हाँ! इतना याद है कि हम दोनों ने मिलकर अपने भावी जीवन का एक कार्यक्रम तैयार कर लिया था। मैं अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान् ने बैठे-बिठाये ऐसा सच्चा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गयी, तो सोये। उन्हें दूसरे दिन ८ बजे की गाड़ी से जाना था। मैं जब सोकर उठा, तब ७ बज चुके थे। उमापतिजी मुँह हाथ धोये तैयार बैठे थे। बोले—अब आज्ञा दीजिए—लौटते समय इधर ही से जाऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मैं कल चला तो, प्रातःकाल के ४ बजे थे। दो बजे रात से पड़ा जाग रहा था कि कहीं नींद न आ जाय। बल्कि यों समझिए कि सारी रात जागना पड़ा, क्योंकि चलने की चिन्ता लगी हुई थी। गाड़ी में बैठा तो झपकियाँ आने लगीं। कोट उतारकर रख दिया और लेट गया, तुरंत नींद आ गयी। मुगलसराय में नींद खुली। कोट गायब! नीचे-ऊपर, चारों तरफ देखा, कहीं पता नहीं। समझ गया, किसी महाशय ने उड़ा दिया। सोने की सजा मिल गयी। कोट में ५०) खर्च के लिये रखे थे, वे भी उसके साथ उड़ गये। आप मुझे ५०) दें। पत्नी को मैके से लाना है, कुछ कपड़े वगैरह ले जाने पड़ेंगे। फिर ससुराल में सैकड़ों तरह के नेग-जोग लगते हैं। कदम-कदम पर रुपये खर्च होते हैं। न खर्च कीजिए, तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा, तो देता जाऊँगा।

मैं बड़े सकोच में पड़ गया। एक बार पहले भी धोखा खा चुका था। तुरत भ्रम हुआ कहीं अबकी फिर वही दशा न हो। लेकिन शीघ्र ही मन के इस अविश्वास पर लज्जित हुआ। संसार में भी मनुष्य एक-से नहीं होते। यह बेचारे इतने सज्जन हैं। इस समय सकट में पड़ गये हैं। और मैं मिथ्या

संदेह में पड़ा हुआ हूँ। घर में आकर पत्नी से कहा—तुम्हारे पास कुछ रुपये तो नहीं हैं!

स्त्री—क्या करोगे?

मैं—मेरे मित्र जो कल आये हैं, उनके रुपये किसी ने गाड़ी में चुरा लिये। उन्हें बीवी को विदा कराने ससुराल जाना है। लौटती बार देते जायँगे।

पत्नी ने व्यंग्य करके कहा—तुम्हारे यहाँ जितने मित्र आते हैं, सब तुम्हें ठगने ही आते हैं, सभी संकट में पड़े रहते हैं। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

मैंने ख़ुशामद करते हुए कहा—लाओ दे दो। बेचारे तैयार खड़े हैं। गाड़ी छूट जायगी।

स्त्री—कह दो, इस समय घर में रुपये नहीं हैं।

मैं—यह कह देना आसान नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि मैं दरिद्र ही नहीं, मित्र-हीन भी हूँ; नहीं तो क्या मेरे लिये ५०) का भी इंतिजाम न हो सकता। उमापति को कभी विश्वास न आयेगा कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। इससे तो कहीं अच्छा हो कि साफ़-साफ़ यह कह दिया जाय कि 'हमको आप पर भरोसा नहीं है, हम आपको रुपये नहीं दे सकते।' कम-से-कम अपना पर्दा तो ढँका रह जायगा।

श्रीमती ने झुँझलाकर संदूक की कुञ्जी मेरे आगे फेंक दी और कहा—तुम्हें जितना बहस करना आता है, उतना कहीं आदमियों को परखना आता, तो अब तक आदमी हो गये होते! ले जाओ, दे दो। किसी तरह तुम्हारी मरजाद तो बनी रहे। लेकिन उधार समझकर मत दो, यह समझ लो कि पानी में फेंक देते हैं।

मुझे आम खाने से काम था, पेड़ गिनने से नहीं। चुपके से रुपये निकाले और लाकर उमापति को दे दिये। फिर लौटती बार आकर रुपये दे जाने का आश्वासन देकर चल दिये।

सातवें दिन शाम को वह घर से लौट आये। उनकी पत्नी और पुत्री भी साथ थीं। मेरी पत्नी ने शक्कर और दही खिलाकर उनका स्वागत किया। मुँह-दिखाई के २) दिये। उनकी पुत्री को भी मिठाई खाने को २) दिये। मैंने समझा था, उमापति आते ही आते मेरे रुपये गिनने लगेंगे; लेकिन उन्होंने

पहर रात गये तक रुपयों का नाम भी नहीं लिया। जब मैं घर में सोने गया, तो बीवी से कहा—इन्होंने तो रुपये नहीं दिये जी!

पत्नी ने व्यग्य से हँसकर कहा—तो क्या सचमुच तुम्हें आशा थी कि वह आते ही आते तुम्हारे हाथ में रुपये रख देंगे? मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि फिर पाने की आशा से रुपये मत दो, यही समझ लो कि किसी मित्र को, सहायतार्थ दे दिये। लेकिन तुम भी विचित्र आदमी हो।

मैं लज्जित और चुप हो रहा। उमापतिजी दो दिन रहे। मेरी पत्नी उनका यथोचित आदर-सत्कार करती रहीं। लेकिन मुझे उतना संतोष न था। मैं समझता था, इन्होंने मुझे धोखा दिया।

तीसरे दिन प्रातःकाल वह चलने को तैयार हुए। मुझे अब भी आशा थी कि वह रुपये देकर जायेंगे। लेकिन जब उनकी नई रामकहानी सुनी, तो सन्नाटे में आ गया। वह अपना बिस्तरा बाँधते हुए बोले—बड़ा ही खेद है कि मैं अबकी बार आपके रुपये न दे सका। बात यह है कि मकान पर पिताजी से भेंट ही नहीं हुई। वह तहसील-वसूल करने गाँव चले गये थे। और मुझे इतना अवकाश न था कि गाँव तक जाता। रेल का रास्ता नहीं है। बैल-गाड़ियों पर आना पड़ता है। इसलिए मैं एक दिन मकान पर रहकर ससुराल चला गया। वहाँ सब रुपये खर्च हो गये। बिदाई के रुपये न मिल जाते, तो यहाँ तक आना कठिन था। अब मेरे पास रेल का किराया तक नहीं है। आप मुझे २५) और दे दें। मैं वहाँ जाते ही भेज दूँगा। मेरे पास इक्के तक का किराया नहीं है।

जी में तो आया कि टका-सा जवाब दे दूँ, पर इतनी अशिष्टता न हो सकी। फिर पत्नी के पास गया और रुपये माँगे। अब उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने रुपये निकालकर मेरे हवाले कर दिये। मैंने उदासीन भाव से रुपये उमापतिजी को दे दिये। जब उनकी पुत्री और अर्धांगिनी जीने से उतर गई, तो उन्होंने बिस्तर उठाया और मुझे प्रणाम किया। मैंने बैठे-बैठे सिर हिलाकर जवाब दिया। उन्हें सड़क तक पहुँचाने भी न गया।

एक सप्ताह के बाद उमापतिजी ने लिखा—मैं कार्यवश बराबर जा रहा हूँ। लौटकर रुपये भेजूँगा।

१५ दिन के बाद मैंने एक पत्र लिखकर कुशल-समाचार पूछे। कोई उत्तर न आया। १५ दिन के बाद फिर रुपयों का तकाज़ा किया। उसका भी कुछ जवाब न मिला। एक महीने बाद फिर तकाजा किया। उसका भी यही हाल! एक रजिस्टरी पत्र भेजा। वह पहुँच गया, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन जवाब उसका भी न आया। समझ गया, समझदार जोरू ने जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य था। निराश होकर चुप हो रहा।

इन पत्रों की मैंने पत्नी से चर्चा भी नहीं की और न उसी ने कुछ इस बारे में पूछा।

(२)

इस कपट व्यवहार का मुझ पर वही असर पड़ा, जो साधारणतः स्वाभाविक रूप से पड़ना चाहिए था। कोई ऊँची और पवित्र आत्मा इस छल पर भी अटल रह सकती थी। उसे यह समझकर सन्तोष हो सकता था कि मैंने अपने कर्तव्य को पूरा कर दिया। यदि ऋणी ने ऋण नहीं चुकाया, तो मेरा क्या अपराध! पर मैं इतना उदार नहीं हूँ। यहाँ तो महीनों सिर खपाता हूँ, कलम घिसता हूँ, तब जाकर नगद-नारायण के दर्शन होते हैं।

इसी महीने की बात है मेरे यंत्रालय में एक नया कंपोजीटर बिहार-प्रात से आया। काम में चतुर जान पड़ता था। मैंने उसे १५) मासिक पर नौकर रख लिया। पहले किसी अँगरेजी स्कूल में पढ़ता था। असहयोग के कारण पढ़ना छोड़ बैठा था। घरवालों ने किसी प्रकार की सहायता देने से इनकार किया। विवश होकर उसने जीविका के लिए यह पेशा अख्तियार कर लिया। कोई १७-१८ वर्ष की उम्र थी। स्वभाव में गंभीरता थी। बात-चीत बहुत सलीके से करता था। यहाँ आने के तीसरे दिन बुख़ार आने लगा। दो-चार दिन तो ज्यों-त्यों करके काटे, लेकिन जब बुख़ार न छूटा, तो घबरा गया। घर की याद आई। और कुछ न सही, घरवाले क्या दवा-दरपन भी न करेंगे। मेरे पास आकर बोला—महाशय, मैं बीमार हो गया हूँ। आप कुछ रुपये दे दें, तो घर चला जाऊँ। वहाँ जाते ही रुपयों का प्रबन्ध करके भेज दूँगा। वह वास्तव में बीमार था। मैं उससे भली-भाँति परिचित था। यह भी जानता था कि यहाँ रहकर वह कभी स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता। उसे सचमुच

सहायता की जरूरत थी, पर मुझे शका हुई कि कहीं यह भी रुपये हजम न कर जाय। जब एक विचारशील, सुयोग्य, विद्वान् पुरुष धोखा दे सकता है, तो ऐसे अर्द्धशिक्षित नवयुवक से कैसे यह आशा की जाय कि वह अपने वचन का पालन करेगा?

मैं कई मिनट तक घोर संकट में पड़ा रहा। अंत में बोला—भाई, मुझे तुम्हारी दशा पर बहुत दुःख है। मगर मैं इस समय कुछ न कर सकूँगा। बिलकुल खाली हाथ हूँ। खेद है।

यह कोरा जवाब सुनकर उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वह बोला—आप चाहें तो कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य कर सकते हैं। मैं जाते ही आपके रुपये भेज दूँगा।

मैंने दिल में कहा—यहाँ तो तुम्हारी नीयत साफ़ है, लेकिन घर पहुँचकर भी यही नीयत रहेगी, इसका क्या प्रमाण है? नीयत साफ़ रहने पर भी मेरे रुपये दे सकोगे या नहीं, यही कौन जाने? कम से कम तुमसे वसूल करने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। प्रकट में कहा—इसमें मुझे कोई सदेह नहीं है, लेकिन खेद है कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। हाँ, तुम्हारी जितनी तनख्वाह निकलती हो वह ले सकते हो।

उसने कुछ जवाब नहीं दिया? किंकर्तव्य विमूढ की तरह एक बार आकाश की ओर देखा और चला गया। मेरे हृदय में कठिन वेदना हुई। अपनी स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। पर अत को मैंने जो निश्चय किया था, उसी पर स्थिर रहा। इस विचार से मन को सतोष हो गया कि मैं ऐसा कहाँ का धनी हूँ जो यों रुपये पानी में फेंकता फिरूँ।

यह है उस कपट का परिणाम, जो मेरे कवि मित्र ने मेरे साथ किया।

मालूम नहीं, आगे चलकर इस निर्दयता का क्या कुफल निकलता; पर सौभाग्य से उसकी नौबत न आई। ईश्वर को मुझे इस अपयश से बचाना मंजूर था। जब वह आँखों में आँसू-भरे मेरे पास से चला, तो कार्यालय के एक क्लर्क, प० पृथ्वीनाथ से उसकी भेंट हो गयी। पण्डितजी ने उससे हाल पूछा। पूरा वृत्तात सुन लेने पर बिना किसी आगे पीछे के उन्होंने १५) निकालकर उसे दे दिये। ये रुपये उन्हें कार्यालय के मुनीम से उधार लेने पड़े। मुझे यह

हाल मालूम हुआ, तो हृदय के ऊपर से एक बोझ-सा उतर गया। अब वह बेचारा मजे से अपने घर पहुँच जायगा। यह संतोष मुफ्त ही में प्राप्त हो गया। कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आई। मैं लंबे लंबे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था; पर अवसर पड़ने पर साफ़ जान बचाकर निकल गया! और, यह बेचारा क्लर्क, जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला! गुरू गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गये। ख़ैर, उसमें भी एक व्यंग्य-पूर्ण संतोष था कि मेरे उपदेशों का असर मुझ पर न हुआ, न सही; दूसरों पर तो हुआ! चिराग़ के तले अँधेरा रहा तो क्या हुआ, उसका प्रकाश तो फैल रहा है! पर, कहीं बचा को रुपये न मिले (और शायद ही मिलें, इसकी बहुत कम आशा है) तो ख़ूब छकेंगे। हजरत को आड़े हाथों लूँगा। किन्तु मेरी यह अभिलाषा न पूरी हुई। पाँचवें दिन रुपये आ गये। ऐसी और आँखें खोल देनेवाली यातना मुझे और कभी नहीं मिली थी। ख़ैरियत यही थी कि मैंने इस घटना की चर्चा स्त्री से नहीं की थी; नहीं तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जाता।

(३)

उपर्युक्त वृत्तांत लिखकर मैंने एक पत्रिका में भेज दिया। मेरा उद्देश्य केवल यह था कि जनता के सामने कपट-व्यवहार के कुपरिणाम का एक दृश्य रखूँ। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कोई प्रत्यक्ष फल निकलेगा। इसी से जब चौथे दिन अनायास मेरे पास ७५) का मनीआर्डर पहुँचा, तो मेरे आनन्द की सीमा न रही। प्रेषक वही महाशय थे--उमापति। कूपन पर केवल "क्षमा" लिखा हुआ था। मैंने रुपये ले जाकर पत्नी के हाथों में रख दिये और कूपन दिखलाया।

उसने अनमने भाव से कहा--इन्हें ले जाकर यत्न से अपने संदूक़ में रखो। तुम ऐसे लोभी प्रकृति के मनुष्य हो, यह मुझे आज मालूम हुआ। थोड़े-से रुपयों के लिए किसी के पीछे पंजे झाड़कर पड़ जाना सज्जनता नहीं है। जब कोई शिक्षित और विचारशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे, तो यही समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तक़ाज़ों से लज्जित करना भलमंसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया

सहायता की जरूरत थी , पर मुझे शका हुई कि कहीं यह भी रुपये हजम न कर जाय। जब एक विचार शील, सुयोग्य, विद्वान् पुरुष धोखा दे सकता है, तो ऐसे अर्द्धशिक्षित नवयुवक से कैसे यह आशा की जाय कि वह अपने वचन का पालन करेगा ?

मैं कई मिनट तक घोर सकट में पड़ा रहा। अत में बोला—भाई, मुझे तुम्हारी दशा पर बहुत दुःख है। मगर मैं इस समय कुछ न कर सकूँगा। बिलकुल खाली हाथ हूँ। खेद है।

यह कोरा जवाब सुनकर उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वह बोला—आप चाहें तो कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य कर सकते हैं। मैं जाते ही आपके रुपये भेज दूँगा।

मैंने दिल में कहा—यहाँ तो तुम्हारी नीयत साफ़ है, लेकिन घर पहुँचकर भी यही नीयत रहेगी, इसका क्या प्रमाण है ? नीयत साफ़ रहने पर भी मेरे रुपये दे सकोगे या नहीं, यही कौन जाने ? कम से कम तुमसे वसूल करने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। प्रकट में कहा—इसमें मुझे कोई सदेह नहीं है, लेकिन खेद है कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। हाँ, तुम्हारी जितनी तनख्वाह निकलती हो वह ले सकते हो।

उसने कुछ जवाब नहीं दिया ? किंकर्तव्य विमूढ की तरह एक बार आकाश की ओर देखा और चला गया। मेरे हृदय में कठिन वेदना हुई। अपनी स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। पर अत को मैंने जो निश्चय किया था, उसी पर स्थिर रहा। इस विचार से मन को सतोष हो गया कि मैं ऐसा कहाँ का धनी हूँ जो यों रुपये पानी में फेंकता फिरूँ।

यह है उस कपट का परिणाम, जो मेरे कवि मित्र ने मेरे साथ किया।

मालूम नहीं, आगे चलकर इस निर्दयता का क्या कुफल निकलता , पर सौभाग्य से उसकी नौबत न आई। ईश्वर को मुझे इस अपयश से बचाना मजूर था। जब वह आँखों में आँसू-भरे मेरे पास से चला, तो कार्यालय के एक क्लर्क, प० पृथ्वीनाथ से उसकी भेंट हो गयी। पण्डितजी ने उससे हाल पूछा। पूरा वृत्तात सुन लेने पर बिना किसी आगे पीछे के उन्होंने १५) निकालकर उसे दे दिये। ये रुपये उन्हें कार्यालय के मुनीम से उधार लेने पड़े। मुझे यह

हाल मालूम हुआ, तो हृदय के ऊपर से एक बोझ-सा उतर गया। अब वह बेचारा मजे से अपने घर पहुँच जायगा। यह संयोग मुफ्त ही में प्राप्त हो गया। कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आई। मैं लंबे-लंबे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था; पर अवसर पड़ने पर साफ़ जान बचाकर निकल गया! और, यह बेचारा क्लर्क, जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला! गुरू गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गये। ख़ैर, उसमें भी एक व्यंग्य-पूर्ण संतोष था कि मेरे उपदेशों का असर मुझ पर न हुआ, न सही; दूसरों पर तो हुआ! चिराग़ के तले अँधेरा रहा तो क्या हुआ, उसका प्रकाश तो फैल रहा है! पर, कहीं बचा को रुपये न मिले (और शायद ही मिलें, इसकी बहुत कम आशा है) तो ख़ूब छकेंगे। हजरत को आड़े हाथों लूँगा। किन्तु मेरी यह अभिलाषा न पूरी हुई। पाँचवें दिन रुपये आ गये। ऐसी और आँखें खोल देनेवाली यातना मुझे और कभी नहीं मिली थी। खैरियत यही थी कि मैंने इस घटना की चर्चा स्त्री से नहीं की थी; नहीं तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जाता।

(२)

उपर्युक्त वृत्तांत लिखकर मैंने एक पत्रिका में भेज दिया। मेरा उद्देश्य केवल यह था कि जनता के सामने कपट-व्यवहार के कुपरिणाम का एक दृश्य रखूँ। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कोई प्रत्यक्ष फल निकलेगा। इसी से जब चौथे दिन अनायास मेरे पास ७१) का मनीआर्डर पहुँचा, तो मेरे आनन्द की सीमा न रही। प्रेषक वही महाशय थे—उमापति। कूपन पर केवल "क्षमा" लिखा हुआ था। मैंने रुपये ले जाकर पत्नी के हाथों में रख दिये और कूपन दिखलाया।

उसने अनमने भाव से कहा—इन्हें ले जाकर यत्न से अपने संदूक में रखो। तुम ऐसे लोभी प्रकृति के मनुष्य हो, यह मुझे आज मालूम हुआ। थोड़े-से रुपयों के लिए किसी के पीछे पंजे झाड़कर पड़ जाना सज्जनता नहीं है। जब कोई शिक्षित और विचारशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे, तो यही समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तकाजों से लज्जित करना भलमंसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया

है, यथाशक्ति किसी को धोखा नहीं देता। इन रुपयों को मैं तब तक अपने पास नहीं रखूँगी, जब तक उमापति का कोई पत्र न आ जायगा कि क्यों रुपये भेजने में इतना विलम्ब हुआ।

पर इस समय मैं ऐसी उदार बातें सुनने को तैयार न था। डूबा हुआ धन मिल गया, इसकी ख़ुशी से फूला नहीं समाता था।



राज्य-भक्त

संध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहबों और दरबारियों के साथ बाग़ की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्न-जटित मुकुट की जगह अँग्रेजी टोपी थी। वस्त्र भी अँग्रेजी ही थे। मुसाहबों में पाँच अँग्रेज थे। उनमें से एक के कंधे पर सिर रखकर बादशाह चल रहे थे। तीन-चार हिंदुस्तानी भी थे। उनमें एक राजा बख्तावरसिंह थे। वह अधेड़ आदमी थे। शरीर ख़ूब गठा हुआ था। लखनवी पहनावा उन पर बहुत सजता था। मुख से विचार-शीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रौशनुद्दौला था। यह राज्य के प्रधान मंत्री थे। बड़ी-बड़ी मूँछें और नाटा डील था, जिसे ऊँचा करने के लिए वह तनकर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था। शेष लोगों में एक कोतवाल था और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभी १६ वीं शताब्दी का आरम ही था, पर बादशाह ने अँग्रेज़ी रहन-सहन अख्तियार कर ली थी। भोजन भी प्रातः अँग्रेज़ी ही करते थे। अँग्रेज़ों पर उनका असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते थे। मजाल न थी कि कोई बड़े-से-बड़ा राजा या राजकर्मचारी किसी अँग्रेज़ से बराबरी करने का साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख्तावरसिंह थे। उनसे कंपनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कंपनी की उस सेना की संख्या जो उसने अवध के राज्य की रक्षा के लिए लखनऊ में नियुक्ति की थी, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी परिमाण से सेना का व्यय भी बढ़ रहा था। राज-दरबार उसे चुका न सकने के कारण कंपनी का ऋणी होता जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन से हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता था। शस्त्र सभी पुराने थे। वर्दी फटी हुई। क़वायद का नाम नहीं। कोई उनका पूछनेवाला न था। अगर राजा बख्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नये शस्त्रों के सम्बन्ध में कोई प्रयत्न करते,

तो कपनी का रेजिडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-सचार का दोषारोपण करता था। उधर से डाँट पड़ती, तो बादशाह अपना गुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँग्रेज मुसाहब राजा साहब से शकित रहते और उनकी जड़ खोदने का प्रयास किया करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए भी अपने कर्तव्य का पालन करता जाता था। मजा यह कि सेना भी उनसे सतुष्ट न थी। सेना में अधिकाश लखनऊ के शोहदे और गुडे भरे हुए थे। राजा साहब जब उन्हें हटाकर अच्छे-अच्छे जवानों को भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सेना में हाहाकार मच जाता। लोगों को शका होती कि यह राजपूतों की सेना बनाकर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नहीं बढ़ाना चाहते! इसलिए मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन में बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्यागकर चले जायँ, पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही अँग्रेजों की बन आयेगी और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे, रही-सही सेना के साथ अवध-राज्य का अस्तित्व भी मिट जायगा। अतएव इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी चारों ओर वैर-विरोध से घिरे होने पर भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह थी कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से खार खाता था। उसे सदैव शका रहती कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिए वह राजा साहब के प्रत्येक कार्य में बाधा डालता रहता था। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो अँग्रेजों के सरक्षण में, अन्यथा वह अवश्य हिन्दुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव में बख्तावरसिंह की दशा अत्यत करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की भाँति दाँतों के बीच में पड़े हुए अपना काम किये जाते थे। यों तो वह स्वभाव के अक्खड़ थे, अपना काम निकालने के लिए मधुरता और मृदुलता, शील और विनय का आवाहन करते रहते थे। इससे उनके व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती थी और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशक बना देती थी।

बादशाह ने एक अँग्रेज-मुसाहब से पूछा—तुमको मालूम है, मैं तुम्हारी कितनी खातिर करता हूँ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नहीं कि वह किसी अँग्रेज को कड़ी निगाहों से देख सके।

अँग्रेज-मुसाहब ने सिर झुकाकर जवाब दिया—हम हुजूर की इस मिहरबानी को कभी नहीं भूल सकते।

बा०—इमामहुसैन की कसम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हें तकलीफ़ दे, तो मैं उसे फ़ौरन ज़िंदा दीवार में चुनवा दूँ।

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अपनी अँग्रेजी टोपी हाथ में लेकर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज-रोज नाचते-नाचते टोपी में उँगली का घर हो गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठाकर उँगली पर रखी, तो टोपी में छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँग्रेजों की तरफ़ था। बख्तावरसिंह बादशाह के मुँह से ऐसी बातें सुनकर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन में कितनी ख़ुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजों का कितना अपमान था! और लोग तो टोपी का छिद्र देखकर हँसने लगे, पर राजा बख्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—हुजूर, ताज में सूराख़ हो गया।

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरन्त कानों पर उँगलियाँ रख लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गये। अँग्रेजों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार काना-फूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले। इसमें कोई संदेह नहीं था। संभव है, उन्होंने जान-बूझकर व्यंग्य न किया हो, उनके दुःखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया हो; पर बात बिगड़ जरूर गयी थी। अब उनके शत्रु उन्हें कुचलने के ऐसे सुन्दर अवसर को हाथ से क्यों जाने देते!

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो ख़ून सर्द हो गया। समझ गये, आज शत्रुओं के पंजे में फँस गया और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् ही निकालें, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखें करके कहा—इस नमकहराम को क़ैद

कर लो और इसी वक्त इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—खड़े सोचते क्या हो, पकड़ लो, नहीं तो तुम भी इसी आग में जल जाओगे।

तब कोतवाल ने आगे बढ़कर बख्तावरसिंह को गिरफ्तार कर लिया। एक क्षण में उनकी मुश्कें कस दी गयीं। लोग उन्हें चारों ओर से घेरकर कत्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—मैं भी वहीं चलता हूँ। जरा देखूँगा कि नमकहरामों की लाश क्योंकर तड़पती है।

कितनी घोर पशुता थी! यही प्राणी जरा देर पहले बादशाह का विश्वास-पात्र था!

एकाएक बादशाह ने कहा—पहले इस नमकहराम की खिलअत उतार लो। मैं नहीं चाहता कि मेरी खिलअत की बेइज्जती हो।

किसकी मजाल थी, जो जरा भी जबान हिला सके। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किये। दुर्भाग्यवश उनके जेब से एक पिस्तौल निकल आई। उसकी दोनों नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—कसम है हजरत इमामहुसैन की, अब इसकी जाँबख्शी नहीं करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या जरूरत! जरूर इसकी नीयत में फितूर था। अब मैं इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा। (मुसाहबों की तरफ देखकर) देखी तुम लोगों ने इसकी नीयत! मैं अपनी आस्तीन में साँप पाले हुए था। आप लोगों के खयाल में इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है?

अंग्रेज़ों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंजूर था। वे उन्हें अपना मित्र बनाकर जितना काम निकाल सकते थे उतना उनके मारे जाने से नहीं। इसी से एक अँग्रेज-मुसाहब ने कहा—मुझे तो इसमें कोई गैरमुनासिब बात नहीं मालूम होती। जेनरल आपका बाडीगार्ड (रक्षक) है। उसे हमेशा हथियार-बंद

रहना चाहिए। खासकर जब आपकी खिदमत में हो। नहीं मालूम, किस वक्त इसकी जरूरत आ पड़े।

दूसरे अँग्रेज-मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बादशाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शान्त हुई। अगर ये ही बातें किसी हिन्दुस्तानी मुसाहब की जबान से निकली होतीं, तो उसकी जान की खैरियत न थी। कदाचित् अँग्रेजों को अपनी न्याय परता का नमूना दिखाने ही के लिए उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—क़सम हज़रत इमाम की, तुम सब-के-सब शेर के मुँह से उसका शिकार छीनना चाहते हो! पर मैं एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगों के खयाल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और अगर उनकी राय इसके खिलाफ हुई, तो इस मक्कार को इसी वक्त जहन्नुम भेज दूँगा। मगर ख़बरदार, कोई उनकी तरफ किसी तरह का इशारा न करे· वर्ना मैं ज़रा भी रू-रिआयत न करूँगा। सब-के-सब सिर झुकाये बैठे रहें।

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आउरदे, पर इन दिनों बादशाह की उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज-भक्तों में थे, जो अपने को राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे। बादशाह उनके कर्मों से बहुत सतुष्ट थे। एक आदमी तुरन्त कप्तान साहब को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी में थी। रोशनुद्दौला को छोड़कर ऐसा शायद एक व्यक्ति भी न था, जिसका हृदय आशा और निराशा से न धड़क रहा हो। सब मन में भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह से इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आये, और उड़ती हुई दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुकाकर खड़े हो गये।

बादशाह ने पूछा—मेरे मुसाहबों को अपनी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखना मुनासिब है या नहीं?

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिंतायुक्त अधीरता देखकर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गयी। वह निर्भीक भाव से बोले—हुज़ूर, मेरे ख़याल में तो यह उनका फ़र्ज है। बादशाह

के दोस्त दुश्मन सभी होते हैं। अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा का भार न लेंगे, तो कौन लेगा? उन्हें सिर्फ़ पिस्तौल ही नहीं, और भी छिपे हुए हथियारों से लैस रहना चाहिए। न जाने कब हथियारों की जरूरत आ पड़े, तो वह ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे?

राजा साहब के जीवन के दिन बाक़ी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—रोशन, इसे क़त्ल मत करना, कालकोठरी में क़ैद कर दो। मुझसे पूछे बग़ैर इसे दाना पानी कुछ न दिया जाय। जाकर इसके घर का सारा माल-असबाब जब्त कर लो और सारे खानदान को जेल में बन्द कर दो। इसके मकान की दीवारें ज़मी-दोज करा देना। घर में एक फूटी हाँड़ी भी न रहने पाये।

इससे तो यही कहीं अच्छा था कि राजा साहब ही की जान जाती। खान-दान की बेइज्जती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़तीं! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे ख़ानदान को विपत्ति में डालकर!

रौशनुद्दौला को मुँह-माँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या कभी इतनी सन्तुष्ट न हुई थी। वह मगन था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिन्दू राज्य का अन्त हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता हूँगा। संध्या से पहले ही राजा साहब की सारी स्थावर और जंगम संपत्ति कुर्क हो गयी। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ, छोटे-छोटे बालक सब-के सब जेल में क़ैद कर दिये गये। कितनी करुण दशा थी। वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थीं, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटती, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियों से होती हुई, सिर झुकाये, शोक-चित्रों की भाँति, जेल की तरफ़ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के ख़ानदान की यह दुर्दशा!

(२)

राजा बख्तावरसिंह को बंदी-गृह में रहते हुए एक मास बीत गया। वहाँ

उन्हें सभी प्रकार के कष्ट दिये जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय न मिलता था। उनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन राजा साहब को बंदी-गृह में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता था। वहाँ प्रति-क्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज न हो जायँ, मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं। शारीरिक कष्टों का सहना उतना कठिन नहीं, जितना कि मानसिक कष्टों का। यहाँ सब तकलीफ़ें थीं, पर सिर पर तलवार तो नहीं लटक रही थी। उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें, मगर मैं राज-काज से अलग ही रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है, कोई मानवी शक्ति उसे विनाश-दिशा में लीन होने से नहीं रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण हैं। नहीं तो क्या मेरी राज-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था? मैंने अब तक कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। एक ओर तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बलवान् और युक्ति-संपन्न शत्रुओं की कूटनीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका को चलाते रहना कितना कष्टसाध्य था! शायद ही ऐसा कोई दिन गुज़रा होगा, जिस दिन मेरा चित्त प्राण-शंका से आंदोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्लीनता का यह पुरस्कार है! मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, लेकिन उनके लिए इतना कठोर दण्ड? इससे तो यह कहीं अच्छा था कि मैं क़त्ल कर दिया गया होता, अपनी आँखों से अपने परिवार की यह दुर्गति तो न देखता! सुनता हूँ, पिताजी को सोने के लिए चटाई नहीं दी गई है! न जाने स्त्रियों पर कैसे कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन इतना जानता हूँ कि प्यारी सुखदा अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी; अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे इन बेड़ियों की पर्वा नहीं। पर सुनता हूँ, लड़कों के पैरों में भी बेड़ियाँ डाली गयी हैं। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जी चाहे, इस समय सता ले, कुचल ले; मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। भगवान् से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन में जो कुछ करना था, कर चुका, और उसका ख़ूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिए संसार में स्थान नहीं है।

राजा इन्हीं विचारों में डूबे थे। सहसा उन्हें अपनी काल-कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा छाया था, और उस अंधकारमय सन्नाटे में किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनाई देती थी। कोई बहुत पाँव दबाकर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक धक करने लगा। वह उठकर खड़े हो गये। हम निशस्त्र और प्रतिकार के लिए असमर्थ होने पर भी बैठे बैठे वारों का निशाना नहीं बनना चाहते। खड़े हो जाना आत्मरक्षा का अन्तिम प्रयत्न है। कोठरी में ऐसी कोई वस्तु न थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गये, अन्तिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अन्त हो जायगा।

एक क्षण में उनके सम्मुख एक आदमी आकर खड़ा हो गया। राजा साहब ने आकर पूछा—कौन है?

उत्तर मिला—मैं हूँ, आपका सेवक।

राजा—ओ हो, तुम हो कप्तान! मैं शंका में पड़ा हुआ था कि कहीं शत्रुओं ने मेरा वध करने के लिए कोई दूत न भेजा हो।

कप्तान—शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह-सलामत की जान बचती नहीं नजर आती।

राजा—अरे! यह क्योंकर?

कप्तान—जबसे आपको यहाँ नजरबन्द किया गया है, सारे राज्य में हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रखी है। अंग्रेजों की ख़ुदाई फिर रही है। जो जी में आता है, करते हैं, किसी की मजाल नहीं कि चूँ कर सके। इस एक महीने में शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गये। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाजारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई चीज ही नहीं लाते। दूकानदारों से मनमानी रकमें महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। गल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने ही घरों में चूल्हा जलने की नौबत नहीं आती। सिपाहियों को अभी तक तनख्वाह नहीं मिली। वे जाकर दूकानदारों को लूटते हैं। सारे राज्य में बदअमली हो रही है। मैंने कई बार यह कैफ़ियत बादशाह-सलामत के कानों तक

पहुँचाने की कोशिश की ; मगर वह यह तो कह देते हैं कि मैं इसकी तहक़ीक़ात करूँगा, और फिर बेख़बर हो जाते हैं। आज शहर के बहुत-से दूकानदार फ़रियाद लेकर आये थे कि हमारे हाल पर निगाह न की गई, तो हम शहर छोड़कर कहीं और चले जायँगे। फ़िरंगियों ने उनको सख़्त कहा, धमकाया, लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, वहाँ से न हटे। आख़िर जब बादशाह-सलामत ने उनको दिलासा दिलाया, तो चले गये।

राजा—बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताज्जुब है !

कप्तान—असर वसर कुछ नहीं हुआ। यह भी उनकी एक दिल्लगी है। शाम को ख़ास मुसाहबों को बुलाकर हुक्म दिया है कि आज मैं भेष बदलकर शहर का गश्त करूँगा ; तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देखना चाहता हूँ कि रिआया क्यों इतनी घबराई हुई है। सब लोग मुझसे दूर रहें ; किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचों अँग्रेज-मुसाहब साथ रहेंगे।

राजा—तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गयी ?

कप्तान—मैंने उसी अँग्रेज हज्जाम को मिला रखा है। दरबार में जो कुछ होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफ़ारिश से आपकी ख़िद-मत में हाज़िर होने का मौक़ा मिला। (घड़ियाल में १० बजते हैं) ग्यारह बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख़्त ख़ाली हो जायगा।

राजा (घबराकर)—क्या इन सबों ने उन्हें क़त्ल करने की साज़िश कर रखी है ?

कप्तान—जी नहीं ; क़त्ल करने से उनका मंशा न पूरा होगा। बादशाह को बाजार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ़ ले जायँगे। वहाँ अँग्रेज़ सिपा-हियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फ़ौरन एक गाड़ी पर बिठाकर रेजिडेंसी में ले जायगा। वहाँ रेजिडेंट साहब बादशाह-सलामत को सल्तनत से इस्तीफ़ा देने पर मजबूर करेंगे। उसी वक़्त उनसे इस्तीफ़ा लिखा लिया जायगा और इसके बाद रातों रात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।

राजा—बड़ा ग़ज़ब हो गया। अब तो वक़्त बहुत कम है ; बादशाह-सलामत निकल पड़े होंगे !

कप्तान—गजब क्या हो गया? इनकी जात से किसे आराम था? दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही खराब हो, इससे अच्छी ही होगी।

राजा—अँग्रेजों की हुकूमत होगी?

कप्तान—अँग्रेज इनसे कहीं बेहतर इन्तजाम करेंगे।

राजा (करुण स्वर से)—कप्तान! ईश्वर के लिए ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे जरा देर पहले क्यों न यह कैफियत बयान की?

कप्तान (आश्चर्य से)—आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया!

राजा—मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो, लेकिन एक राज्य की कीमत एक आदमी या एक खानदान की जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ खुलवा सकते हो?

कप्तान—सारे अवध राज्य में एक भी ऐसा आदमी न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके ज़ुल्म से तंग आ गयी है।

राजा—मैं अपनों के ज़ुल्म को गैरों की बंदगी से कहीं बेहतर खयाल करता हूँ। बादशाह की यह हालत गैरों ही के भरोसे पर हुई है। वह इसी लिए किसी की पर्वा नहीं करते कि उन्हें अँग्रेजों की मदद का यक़ीन है। मैं इन फिरंगियों की चालों को गौर से देखता आता हूँ। बादशाह के मिजाज को उन्होंने बिगाड़ा है। उनका मंशा यही था जो हुआ। रिआया के दिल से बादशाह की इज्जत और मुहब्बत उठ गयी। आज सारा मुल्क बगावत करने पर आमादा है। ये लोग इसी मौके का इन्तजार कर रहे थे। वह जानते हैं कि बादशाह की माज़ूली (गद्दी से हटाये जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहावेगा। लेकिन मैं जताये देता हूँ कि अगर इस वक्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिए अपने ही वतन में ग़ुलामी की जंजीरों में बँध जाओगे। किसी गैर कौम के चाकर बनकर अगर तुम्हें आफ़ियत (शांति) भी मिली, तो वह आफ़ियत न होगी, मौत होगी। गैरों के बेरहम पैरों के नीचे पड़कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद कि कभी हमारे मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध शासन) क़ायम होगी,

हसरत का दाग बनकर रह जायगी। नहीं, मुझमें अभी मुल्क की मुहब्बत बाकी है। मैं अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मैं इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ से न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों गैरों के हाथों न बेचूँगा, मुल्क की इज्जत को न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश में मेरी जान ही क्यों न जाय। कुछ और नहीं कर सकता, तो अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ियाँ खोल दो।

कप्तान—मैं आपका खादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज़ नहीं है।

राजा (जोश में आकर)—जालिम, यह इन बातों का वक्त नहीं है। एक-एक पल हमें तबाही की तरफ़ लिये जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जिस घर में आग लगी है, उसके आदमी ख़ुदा को नहीं याद करते, कुएँ की तरफ दौड़ते हैं।

कप्तान—आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड़ सकता। लेकिन—

राजा—जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इन तकल्लुफ़ की बातों का मौक़ा नहीं है।

कप्तान साहब निरुत्तर हो गये। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक शक्ति होती है। यद्यपि राजा साहब के नीति-पूर्ण वार्तालाप ने उन्हें माक़ूल नहीं किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेड़ियाँ खोलने पर तत्पर हो गये। उसी वक्त जेल के दारोगा को बुलाकर कहा—साहब ने हुक्म दिया है कि राजा साहब को फ़ौरन आज़ाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताख़ीर (विलंब) हुई, तो तुम्हारे हक़ में अच्छा न होगा।

दारोगा को मालूम था कि कप्तान साहब और मि० ''में गाढ़ी मैत्री है। अगर साहब नाराज हो जायँगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफ़ारिश मेरी रक्षा न कर सकेगी। उसने राजा साहब की बेड़ियाँ खोल दीं।

राजा साहब जब तलवार हाथ में लेकर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आंदोलित हो रहा था। उसी वक्त घड़ियाल ने ११ बजाये।

(२)

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में ख़ूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था कि अभी ६ बजे होंगे। सराफ़े में सबसे ज़्यादा रौनक थी। मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखाई देते थे। केवल आदमियों के आने जाने की भीड़ थी। जिसे देखो, पाँचों शस्त्रों से सुसज्जित, मूँछें खड़ी किये, ऐंठता हुआ चला आता था। बाजार के मामूली दूकानदार भी निःशस्त्र न थे।

सहसा एक आदमी, भारी साफा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची कबा पहने, कमर में पटका बाँधे, आकर एक सराफ की दूकान पर खड़ा हो गया। जान पड़ता था, कोई ईरानी सौदागर है। उन दिनों ईरान के व्यापारी लखनऊ में बहुत आते जाते थे। इस समय ऐसे आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी।

सराफ का नाम माधोदास था। बोला—कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ?

सौदागर—सोने का क्या निर्ख है?

माधो—(सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर) निर्ख की कुछ न पूछिए। आज करीब एक महीना से बाजार का निर्ख बिगड़ा हुआ है। माल बाजार में आता ही नहीं। लोग दबाये हुए हैं। बाजार मे खौफ के मारे नहीं लाते। अगर आपको ज्यादा माल दरकार हो, तो मेरे साथ गरीबखाने तक तकलीफ कीजिए। जैसा माल चाहिए, लीजिए। निर्ख मुनासिब ही होगा। इसका इतमीनान रखिए।

सौदागर—आजकल बाजार का निर्ख क्यों बिगड़ा हुआ है?

माधो—क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं?

सौदागर—हाँ, मैं आज ही आया हूँ। कहीं पहले की सी रौनक नहीं नज़र आती। कपड़े का बाजार भी सुस्त था। ढाके का एक कीमती थान बहुत तलाश करने पर भी न मिला।

माधो—इसके बड़े क़िस्से हैं, कुछ ऐसा ही मुआमला है।

सौदागर—डाकुओं का जोर तो नहीं है? पहले तो यहाँ इस क़िस्म की वारदातें न होती थीं।

माधो—अब वह कैफ़ियत नहीं है। दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं। उन्हें कोतवाल क्या, बादशाह-सलामत भी गिरफ़्तार नहीं कर सकते। अब और क्या कहूँ। दीवार के भी कान होते हैं। कहीं कोई सुन ले; तो लेने के देने पड़ जायँ।

सौदागर—सेठजी, आप तो पहेलियाँ बुझवाने लगे। मैं परदेशी आदमी हूँ, यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आख़िर बात क्या है? बाज़ार क्यों इतना बिगड़ा हुआ है? नाज की मंडी की तरफ गया था। सन्नाटा छाया हुआ है! मोटी जिंस भी दूने दामों पर बिक रही थी।

माधो (इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर)—एक महीना हुआ; रोशनुद्दौला के हाथ में सियाह सफ़ेद का अख़्तियार आ गया है। यह सब उन्हीं की बदइन्तज़ामी का फल है। उनके पहले राजा बख्तावरसिंह हमारे मालिक थे। उनके वक़्त में किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टेढ़ी आँख से देख सके। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फ़िरंगियों पर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। हुक्म था कि कोई फ़िरंगी बाजार में आवे, तो थाने का सिपाही उसकी देख-भाल करता रहे। इसी वजह से फ़िरंगी उनसे जला करते थे। आख़िर सबों ने रोशनुद्दौला को मिलाकर बख्तावर सिंह को बेकुसूर क़ैद करा दिया। बस, तब से बाजार में लूट मची हुई है। सरकारी अमले अलग लूटते हैं। फ़िरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज़ चाहते हैं, उठा ले जाते हैं। दाम माँगो तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार में फ़रियाद करो, तो उलटे सज़ा होती है। अभी हाल ही में हम सब मिलकर बादशाह-सलामत की ख़िदमत में हाज़िर हुए थे। पहले तो बहुत नाराज़ हुए, पर आखिर रहम आ गया। बादशाहों का मिजाज ही तो है। हमारी सब शिकायतें सुनीं और तसकीन दी कि हम तहक़ीक़ात करेंगे। मगर अभी तक तो वही लूट-खसोट जारी है।

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्ज़ई पहने आकर दूकान के सामने खड़े हो गये। माधोदास उनका रंग-ढंग देखकर चौंका। शाही फौज के सिपाही बहुधा इसी सज धज से निकलते थे। तीनों आदमी सौदागर को देखकर ठिठके; पर उसने उन्हें कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनों आगे चले गये। तब सौदागर ने माधोदास से पूछा—इन्हें देखकर तुम क्यों चौंके?

माधोदास ने कहा—ये फौज के सिपाही हैं। जबसे राजा बख्तावरसिंह नजर-बन्द हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बाजारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो है नहीं। बस, नोच-खसोट करके गुजर करते हैं। हाँ, तो फिर अगर मरजी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।

सौदागर—नहीं भई, इस वक्त नहीं। सुबह आऊँगा। देर हो गयी है, और मुझे भी यहाँ की हालत देखकर खौफ़ मालूम होने लगा है।

यह कहकर सौदागर उसी तरफ चला गया, जिधर वे तीनों राजपूत गये थे। थोड़ी देर में तीन आदमी और सराफ़े में आये। एक तो पण्डितों की तरह नीची चपकन पहने हुए था, सिर पर गोल पगिया थी और कंधे पर जरी के काम का शाल। उनके दोनों साथी ख़िदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे। तीनों इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानों किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनों आगे चले गये। ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग़ था। एक पुरानी मसजिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनों राजपूत मसजिद से बाहर निकल आये और बोले—हुजूर तो बहुत देर तक सर्राफ़ की दुकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुईं?

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पण्डित और उनके दोनों ख़िदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पण्डित को देखते ही भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक्त तुम्हारे ऊपर इतना ग़ुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का! दग़ाबाज़! तूने मेरी सल्तनत को तबाह कर दिया! सारा शहर तेरे ज़ुल्म का रोना रो रहा है! मुझे आज मालूम हुआ कि तूने क्यों राजा बख्तावरसिंह को क़ैद कराया। मेरी अक़्ल पर न जाने क्यों पत्थर पड़ गये थे कि मैं तेरी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सजा दूँगा कि देखनेवालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—आप मेरे बादशाह हैं, इसलिए आपका अदब करता हूँ, वर्ना इसी वक्त इस बद-जबानी का मजा चखा देता।

.खुद आप तो महल में हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरों को क्या गरज पड़ी है कि सल्तनत की फ़िक्र से दुबले हों ? .खूब, हम अपना .खून जलायें और आप जशन मनायें ! ऐसे अहमक़ कहीं और रहते होंगे।

बादशाह—(क्रोध से काँपते हुए) मि०....मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। और, इसी वक़्त जाकर इसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर लो। उसके खानदान का एक बच्चा भी ज़िंदा न रहने पाये।

रोशन—मि०... मैं तुमको हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और क़ौम के दुश्मन, रैयत के क़ातिल और बदकार आदमी को फ़ौरन गिरफ्तार कर लो। यह इस क़ाबिल नहीं कि ताज और तख्त का मालिक बने।

इतना सुनते ही पाँचों अँग्रेज़ मुसाहबों ने, जो भेस बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनों हाथ पकड़ लिए और खींचते हुए गोमती नदी की ओर ले चले। तब बादशाह की आँखें खुलीं। समझ गये कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नहीं। शोर मचाना व्यर्थ था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था ही वह परीक्षाग्नि है, जो मुलम्मे और रोगन को उतारकर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है। ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण में बादशाह की उद्दण्डता और घमण्ड ने दीनता और विनयशीलता का आश्रय लिया। बोले—मैंने तो आप लोगों की मरज़ी के ख़िलाफ़ ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी यह सज़ा मिले। मैंने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।

रोशन—तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फ़ायदे ही के लिए कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतारकर आपको आज़ाद कर देंगे। तब आपके ऐश में खलल न पड़ेगा। आप बेफ़िक्र होकर हसीनों के साथ ज़िंदगी की बहार लूटियेगा।

बादशाह—तो क्या आप लोग मुझे तख्त से उतारना चाहते हैं ?

रोशन—नहीं, आपको बादशाही की ज़िम्मेदारियों से आज़ाद कर देना चाहते हैं।

बादशाह—हजरत इमाम की क़सम, मैं यह जिल्लत न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुजुर्गों का नाम न डुबाऊँगा।

रोशन—आपके बुजुर्गों के नाम की फ़िक्र हमें आपसे ज्यादा है। आपकी ऐश परस्ती बुजुर्गों का नाम रोशन नहीं कर रही है।

बादशाह (दीनता से)—मैं वादा करता हूँ कि आइन्दा से आप लोगों को शिकायत का कोई मौक़ा न दूँगा।

रोशन—नशेबाजों के वादों पर कोई दीवाना ही यक़ीन कर सकता है?

बादशाह—तुम मुझे जबरदस्ती तख्त से नहीं उतार सकते।

रोशन—इन धमकियों की जरूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए, आगे आपको सेज-गाड़ी मिल जायगी। हम आपको इज्जत के साथ रुखसत करेंगे।

बादशाह—आप जानते हैं, रिआया पर इसका क्या असर होगा?

रोशन—ख़ूब जानता हूँ। आपकी हिमायत में एक उँगली भी न उठेगी। कल सारी सल्तनत में घी के चिराग जलेंगे।

इतनी देर में सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बादशाह को ले जाने के लिए सवारी तैयार खड़ी थी। लगभग २५ सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे। बादशाह सेज गाड़ी को देखकर मचल गये। उनके रुधिर की गति तीव्र हो गयी, भोग और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गयी। उन्होंने जोर से झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया और नैराश्य पूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम भय को त्यागकर, उच्च स्वर से बोले—ऐ लखनऊ के बसनेवालो! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों क़त्ल किया जा रहा है। उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो, वर्ना पछताओगे!

यह आर्त पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई बल्कि लखनऊवालों के हृदयों मे जा पहुँची। राजा बख्तावरसिंह बंदी गृह से निकलकर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते, बड़े वेग से दौड़े चले आ रहे थे। एक पल का विलम्ब भी षड्यन्त्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था। देखते-देखते उनके साथ दो तीन हजार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था। यह सामूहिक शक्ति बादशाह का और लखनऊ राज्य का उद्धार कर सकती थी।

समय सब कुछ था। बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गये, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न कर सकता था। राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था। विफल-मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता था। अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं! अवश्य हम देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ राज्य की स्वाधीनता सदा के लिए विसर्जित हो गयी!

ये लोग निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्तनाद सुनाई दिया। कई हजार कंठों से आकाश भेदी ध्वनि निकली—हुजूर को .खुदा सलामत रखे। हम फ़िदा होने को आ पहुँचे।

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर, वेगवती जलधारा की भाँति, घटनास्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गये। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़कर जा पहुँचे!

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बन्दूकें भरीं और २५ बन्दूकों की बाढ़ सर हो गयी। रक्षाकारियों में कितने ही लोग गिर पड़े, मगर क़दम पीछे न हटे। वीर मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आयी; कुछ लोग फिर वीर गति को प्राप्त हुए। लेकिन क़दम आगे बढ़ते ही गये। तीसरी बाढ़ छूटने ही वाली थी कि लोगों ने विद्रोहियों को जा लिया। गोरे भागे।

जब लोग बादशाह के पास पहुँचे, तो अद्भुत दृश्य देखा। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान लेकर भागे, तो बादशाह ने इस नरपिशाच को पकड़ लिया और उसे बल-पूर्वक भूमि पर गिराकर उसकी छाती पर बैठ गये। अगर उनके हाथों में हथियार होता, तो इस वक्त रोशन की लाश फड़कती हुई दिखाई देती।

राजा बख्तावरसिंह आगे बढ़कर बादशाह को आदाब बजा लाये। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता था, कोई उन्हें आशीर्वाद देता था, और रोशनुद्दौला का शरीर तो लातों और घूसों

का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़े दिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकने में भी संकोच न करते थे।

(४)

प्रातःकाल था। लखनऊ में आनंदोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथा-योग्य नजर देने आये थे। जगह-जगह गरीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबतखाने में नौबत झड़ रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे और जवाहर से जगमगाते, रत्नजटित आभूषणों से सजे हुए सिंहासन पर विराजे। रईसों और अमीरों ने नजरें गुजारीं। कवि-जनो ने कसीदे पढे। एकाएक बादशाह ने पूछा—राजा बख्तावरसिंह कहाँ हैं? कप्तान ने जवाब दिया—कैदखाने में।

बादशाह ने उसी वक्त कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलखाने से इज्जत के साथ लायें। जब थोड़ी देर के बाद राजा ने आकर बादशाह को सलाम किया, तो वे तख्त से उतरकर उनसे गले मिले और उन्हें अपनी दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार में खड़े होकर उनकी सुकीर्ति और राज-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरांत अपने ही हाथों से उन्हें खिलअत पहनाई। राजा साहब के कुटुम्ब के प्राणी भी आदर और सम्मान के साथ बिदा किये गये।

अंत को जब दोपहर के समय दरबार बर्खास्त होने लगा तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध) है कि आप वजारत का कलमदान अपने हाथ में लीजिए और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इंतजाम कीजिए। मैं आपके किसी काम में दखल न दूँगा। मुझे एक गोशे में पड़ा रहने दीजिये। नमकहराम रोशन को भी मैं आपके सिपुर्द किये देता हूँ। आप इसे जो सजा चाहें, दें। मैं इसे कब का जहन्नुम भेज चुका होता, पर यह समझकर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।

लेकिन बख्तावरसिंह बादशाह के उच्छृङ्खल स्वभाव से भलीभाँति परिचित

थे। वह जानते थे, बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। मानवचरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं। दो-चार महीने में दरबार का फिर वही रंग हो जायगा, इसलिए मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्तव्य था, वह मैंने पूरा कर दिया। मैं दरबार से अलग रहकर निष्कामभाव से जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार में रहकर कदापि नहीं कर सकता। हितैषी मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामिभक्त सेवक का उतना नहीं हो सकता।

वह विनीत भाव से बोले—हुजूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ़ रखें। मैं यों ही आपका खादिम हूँ। इस मसब पर किसी लायक़ आदमी को मामूर फरमाइए (नियुक्त कीजिए)। मैं अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इन्तजाम करना क्या जानूँ।

बादशाह—मुझे तो आपसे ज्यादा लायक़ और वफ़ादार आदमी नज़र नहीं आता।

मगर राजा साहब उनकी बातों में न आये। आख़िर मजबूर होकर बादशाह ने उन्हें ज़्यादा न दबाया। दम-भर बाद जब रोशनुद्दौला को सजा देने का प्रश्न उठा, तब दोनों आदमियों में इतना मतभेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गयी। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तों से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थे कि इसे जान से न मारा जाय, केवल नजरबंद कर दिया जाय। अंत में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा—यह एक दिन आपको जरूर दग़ा देगा!

राजा—इस ख़ौफ़ से मैं इसकी जान न लूँगा।

बादशाह—तो जनाब आप चाहें इसे मुआफ़ कर दें, मैं कभी मुआफ़ नहीं कर सकता।

राजा—आपने तो इसे मेरे सिपुर्द कर दिया था। दी हुई चीज को आप वापस कैसे लेंगे!

बादशाह ने कहा—तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही न रखा।

रोशनुद्दौला की जान बच गयी। वजारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेज़िडेंट ने इस षड्यन्त्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की और साफ़ लिख दिया कि बादशाह-सलामत अपने अँगरेज़ मुसाहबों

को जो सज़ा चाहें, दें , मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हें पाता, तो स्वय बादशाह की खिदमत में भेज देता , लेकिन पाँचों महानुभावो में से एक का भी पता न चला। शायद वे सब-के-सब रातोंरात कलकत्ते भाग गये थे। इतिहास में उक्त घटना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया , लेकिन किंवदन्तियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय है, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

———

अधिकार-चिंता

(१)

टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता तो सुननेवालों के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता। लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्रामक्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफे जब बाजार के लेंडियों ने उसे चुनौती दी, तो वह उनका गर्व मर्दन करने के लिए मैदान में आया; और देखनेवालों का कहना है कि जब तक लड़ा, जीवट से लड़ा; नखों और दाँतों से ज्यादा चोटें उसकी दुम ने की। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहता, किन्तु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी, तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार विजय का श्रेय टामी ही को देना उचित और न्यायानुकूल जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया और दाँत निकाल दिये; जो संधि की याचना थी। किन्तु तबसे उसने ऐसे सनीति-विहीन प्रतिद्वन्द्वियों के मुँह लगना उचित न समझा।

इतना शान्ति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जाती थी। उसके बराबरवाले उससे इसलिए जलते कि वह इतना मोटा-ताजा होकर इतना भीरु क्यों है। बाजारी दल इसलिए जलता कि टामी के मारे घूरों पर की हड्डियाँ भी न बचने पाती थीं। वह घड़ी-रात रहे उठता और हलवाइयों की दूकानों के सामने दोने और पत्तल, कसाईखाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता। अतएव इतने शत्रुओं के बीच में रहकर टामी का जीवन संकटमय होता जाता था। महीनों बीत जाते और पेट-भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उसे मनमाने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधनों द्वारा उसको पूरा करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ और स्वादिष्ट पदार्थों के बदले अरुचिकर दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भर-पेट खाने को मिलीं—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ

में विषम वेदना होती रही—तो उसने विवश होकर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डंडों से पेट चाहे भर गया हो, वह उत्कंठा शांत न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ खूब शिकार मिले, खरगोश, हिरन, भेड़ों के बच्चे मैदानों में विचर रहे हों और उनका कोई मालिक न हो, जहाँ किसी प्रतिद्वन्द्वी की गंध तक न हो, आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मनमाना शिकार करूँ, खाऊँ और मीठी नींद सोऊँ। वहाँ चारों ओर मेरी धाक बैठ जाय, सब पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझी को अपना राजा समझने लगें और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ जाय कि किसी द्वेषी को वहाँ पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोगवश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख स्वप्न देखता हुआ सिर झुकाये सड़क छोड़कर गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन से उसकी मुठभेड़ हो गयी। टामी ने चाहा कि बचकर निकल जाऊँ, पर वह दुष्ट इतना शांतिप्रिय न था। उसने तुरन्त झपटकर टामी का टेंटुआ पकड़ लिया। टामी ने बहुत अनुनय-विनय की, गिड़गिड़ाकर कहा—ईश्वर के लिए मुझे यहाँ से चले जाने दो, कसम ले लो, जो इधर पैर रखूँ। मेरी शामत आयी थी कि तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र में चला आया। पर उस मदान्ध और निर्दय प्राणी ने जरा भी रिआयत न की। अन्त में हारकर टामी ने गर्दभ स्वर में फरियाद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुनकर मोहल्ले के दो चार नेता लोग एकत्र हो गये, पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दन्त प्रहार करना शुरू किया। इस अन्यायपूर्ण व्यवहार ने टामी का दिल तोड़ दिया। वह जान छोड़कर भागा। उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया, यहाँ तक कि मार्ग में एक नदी पड़ गयी और टामी ने उसमें कूदकर अपनी जान बचायी।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी मे कूदते ही फिर गये। कूदा था जान बचाने के लिए, हाथ लग गये मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, वहाँ उसकी चिर-सञ्चित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रहीं थीं।

(२)

यह एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती थी, हरियाली की

छटा दिखायी देती थी। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मन्द गान ; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज थे, कहीं रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज नखोंवाले पशु थे, जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता था, पर उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते थे ; नित्य ख़ून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जन्तुओं से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़नेवाले पशुओं में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपककर मांस का कोई टुकड़ा ले भागता और एकान्त में बैठकर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गये। सदा दिवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित्य नये पदार्थ उड़ाता और वृक्षों के नीचे आनन्द से सोता। उसने ऐसे सुख स्वर्ग की कल्पना भी न की थी! वह मरकर नहीं, जीते जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ़ करने लगा। जंगल के जंतु अब चौंके और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नयी चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता, तुम्हारा फलाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है ; किसी से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जन्तु उसके चकमे में आकर आपस में लड़ जाते और टामी की चाँदी हो जाती। अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जंतुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं का उससे मुकाबला करने का साहस न होता था। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाज़ी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रांति को पुष्ट किया करता था। बड़े गर्व से कहता—"परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घर में पड़े रहो। मैं तुमसे कुछ

न बोलूँगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप तुममें से एकाध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है, बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा?" वह अब बड़ी शान से जगल में चारों ओर गौरवान्वित दृष्टि से ताकता हुआ विचरा करता।

टामी को अब कोई चिन्ता थी तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। ज्यों-ज्यों दिन गुजरते थे और सुख-भोग का चसका बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता भी बढ़ती जाती थी। वह अब बहुधा रात को चौंक पड़ता और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर "अन्धा कूकुर बतासे भूँके" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता। बन के पशुओं से कहता—"ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, सदैव तुम्हारी शुभकामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रखो।" पशु एक स्वर में कहते, "जब तक हम जियेंगे, आप ही के अधीन रहेंगे।"

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण-भर भी शाति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात रात और दिन-दिन भर नदी के किनारे इधर-से-उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता, मगर चित्त को शाति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आये।

लेकिन क्वार का महीना आया तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचरों से मिलने के लिए लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। वह दिन याद आया जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे कूचे में चक्कर लगाता था। दो-चार दिन तो उसने सब्र किया, पर अन्त में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तकदीर ठोंककर उठ खड़ा हुआ। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वही मजा चखा सकता था।

किन्तु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातःकाल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मन्द पड़ गयी, आप ही आप सिर झुक गया, दुम सिकुड़ गयी। मगर एक प्रेमिका को आते देखकर वह विह्वल हो उठा, उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी।

उसने तीव्र स्वर से उसकी अवहेलना की। उसकी आवाज सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गये। टामी खिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारों ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते भी न बन पड़ा। देह लहूलुहान हो गयी। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका सी समा गयी। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शांति में बाधा डालने के लिए, मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिए आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी; अब और भी बढ़ गयी।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया और इधर-से-उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गयी; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया और गया, पर टामी निराहार, निर्जल नदी के किनारे चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गये। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल होकर गिर-गिर पड़ता, पर वह शंका किसी भाँति शांत न हुई।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिंता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की; किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अन्त में अस्थिपञ्जरों के सिवा और कुछ न रह गया।

दुराशा

(प्रहसन)

पात्र—

दयाशंकर—कार्यालय के एक साधारण लेखक।

आनन्दमोहन—कालेज का एक विद्यार्थी तथा दयाशंकर का मित्र।

ज्योतिस्वरूप—दयाशंकर का एक सुदूर-सबन्धी।

सेवती—दयाशंकर की पत्नी।

(होली का दिन)

(समय—६ बजे रात्रि, आनन्दमोहन तथा दयाशंकर वार्तालाप करते जा रहे हैं।)

आ०—हम लोगों को देर तो न हुई। अभी तो नौ बजे होंगे?

द०—नहीं, अभी क्या देर होगी!

आ०—वहाँ बहुत इन्तजार न कराना। क्योंकि एक तो दिन-भर गली-गली घूमने के पश्चात् मुझमें इन्तजार करने की शक्ति ही नहीं, दूसरे ठीक ग्यारह बजे बोर्डिङ्ग हाउस का दरवाजा बन्द हो जाता है।

द०—अजी, चलते-चलते थाली सामने आयेगी। मैंने तो सेवती से पहले ही कह दिया है कि नौ बजे तक सब सामान तैयार रखना।

आ०—तुम्हारा घर तो अभी दूर है। यहाँ मेरे पैरों में चलने की शक्ति ही नहीं। आओ, कुछ बात-चीत करते चलें। भला यह तो बताओ कि परदे के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है? भाभीजी मेरे सामने आयेंगी या नहीं, क्या मैं उनके चन्द्रमुख का दर्शन कर सकूँगा? सच कहो।

द०—तुम्हारे और मेरे बीच में तो भाईचारे का सम्बन्ध है। यदि सेवती मुँह खोले हुए भी तुम्हारे सम्मुख आ जाय तो मुझे कोई ग्लानि नहीं। किन्तु साधारणतः मैं परदे की प्रथा का सहायक और समर्थक हूँ। क्योंकि हम

लोगों की सामाजिक नीति इतनी पवित्र नहीं है कि कोई स्त्री अपने लज्जाभाव को चोट पहुँचाये बिना ही अपने घर से बाहर निकले।

आ०—मेरे विचार में तो पर्दा ही कुचेष्टाओं का मूल कारण है। पर्दे से स्वभावतः पुरुषों के चित्त में उत्सुकता उत्पन्न होती है और वह भाव कभी तो बोली-ठोली में प्रकट होता है और कभी नेत्रों के कटाक्षों में।

द०—जब तक हम लोग इतने दृढ़प्रतिज्ञ न हो जायें कि सतीत्वरक्षा के पीछे प्राण भी बलिदान कर दें तब तक परदे की प्रथा का तोड़ना समाज के मार्ग में विष बोना है।

आ०—आपके विचार से तो यही सिद्ध होता है कि यूरोप में सतीत्व रक्षा के लिये रात-दिन रुधिर की नदियाँ बहा करती हैं।

द०—वहाँ इसी बेपर्दगी ने तो सतीत्वधर्म को निर्मूल कर दिया है। अभी मैंने किसी समाचारपत्र में पढ़ा था कि एक स्त्री ने किसी पुरुष पर इस प्रकार का अभियोग चलाया था कि उसने मुझे निर्भीकता-पूर्वक कुदृष्टि से घूरा था, किन्तु विचारक ने उस स्त्री को नख शिख से देखकर यह कहकर मुक़द्दमा ख़ारिज कर दिया कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि हाट-बाट में नवजवान स्त्री को घूरकर देखे। मुझे तो यह अभियोग और यह फैसला सर्वथा हास्यास्पद जान पड़ते हैं और किसी भी समाज का निन्दित करनेवाले हैं।

आ०—इस विषय को छोड़ो। यह तो बताओ कि इस समय क्या-क्या खिलाओगे? मित्र नहीं तो मित्र की चर्चा ही हो।

द०—यह तो सेवती की पाककला-कुशलता पर निर्भर है। पूरियाँ और कचौरियाँ तो होंगी ही। यथासम्भव ख़ूब ख़स्ता भी होंगी। यथाशक्ति ख़स्ते और समोसे भी आयेंगे। खीर आदि के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। आलू और गोभी की शोरबेदार तरकारी और मटर, दालमोठ भी मिलेंगे। फीरिनी के लिए भी कह आया था। गूलर के कोफ़ते और आलू के कबाब, यह दोनों सेवती ख़ूब पकाती है। इनके सिवा दही-बड़े और चटनी-अचार की चर्चा तो व्यर्थ ही है। हाँ, शायद किशमिश का रायता भी मिले। जिसमें केसर की सुगंध उड़ती होगी।

आ०—मित्र, मेरे मुँह में तो पानी भर आया। तुम्हारी बातों ने तो मेरे पैरों में जान डाल दी। शायद पर होता तो उड़कर पहुँच जाता।

द०—लो, अब आ ही जाते हैं। यह तम्बाकूवाले की दूकान है, इसके बाद चौथा मकान मेरा ही है।

आ०—मेरे साथ बैठकर एक ही थाली में खाना। कहीं ऐसा न हो कि अधिक खाने के लिए मुझे भाभीजी के सामने लज्जित होना पड़े।

द०—इससे तुम निश्शंक रहो। उन्हें मिताहारी आदमी से चिढ़ है। वे कहती हैं—"जो खायेगा ही नहीं वह दुनिया मे काम क्या करेगा?" आज शायद तुम्हारी बदौलत मुझे भी काम करनेवालों की पंक्ति में स्थान मिल जावे। कम से कम कोशिश तो ऐसी ही करना।

आ०—भई, यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। शायद तुम्हें ही प्रधानपद मिल जाये।

द०—यह लो, आ गये। देखना सीढ़ियों पर अँधेरा है। शायद चिराग़ जलाना भूल गई।

आ०—कोई हर्ज नहीं। तिमिरलोक ही मे तो सिकन्दर को अमृत मिला था।

द०—अन्तर ही इतना ही है कि तिमिरलोक मे पैर फिसले तो पानी में गिरोगे और यहाँ फिसला तो पथरीली सड़क पर।

(ज्योतिस्वरूप आते हैं।)

ज्योति०—सेवक भी उपस्थित हो गया। देर तो नहीं हुई? डबल मार्च करता आया हूँ।

द०—नहीं, अभी तो देर न हुई। शायद आपकी भोजनाभिलाषा आपको समय से पहले खींच लाई।

आ०—आपका परिचय कराइए। मुझे आपसे देखा-देखी नहीं है।

द०—(अँगरेजी में) मेरे सुदूर के सम्बन्ध में साले होते हैं। एक वकील के मुहर्रिर हैं। जबरदस्ती नाता जोड़ रहे हैं। सेवती ने निमन्त्रण दिया होगा। मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। ये अँगरेजी नहीं जानते।

आ०—इतना तो अच्छा है। अँगरेजी में ही बात करेंगे।

द०—सारा मजा किरकिरा हो गया। कुमानुशों के साथ बैठकर खाना फोड़े के आप्रेशन के बराबर है।

आ०—किसी उपाय से इन्हें विदा कर देना चाहिए।

द०—मुझे तो चिन्ता यह है कि अब संसार के कार्यकर्ताओं में हमारी और तुम्हारी गणना ही न होगी। पाला इसके हाथ रहेगा।

आ०—ख़ैर, ऊपर चलो। आनन्द तो जब आवे कि इन महाशय को आधे पेट ही उठना पड़े।

(तीनों आदमी ऊपर जाते हैं।)

द०—अरे! कमरे में भी रोशनी नहीं, घुप अँधेरा है। लाला ज्योतिस्वरूप, देखिएगा, कहीं ठोकर खाकर न गिर पड़िएगा।

आ०—अरे ग़जब......(आलमारी से टकराकर धम से गिर पड़ता है)।

द०—लाला ज्योतिस्वरूप, क्या आप गिरे? चोट तो नहीं आयी?

आ०—अजी, मैं गिर पड़ा। कमर टूट गयी। तुमने अच्छी दावत की।

द०—भले आदमी, सैकड़ों बार तो आये हो। मालूम नहीं था कि सामने अलमारी रखी हुई है? क्या ज़्यादा चोट लगी?

आ०—भीतर जाओ। थालियाँ लाओ और भाभीजी से कह देना कि थोड़ा-सा तेल गर्म कर लें। मालिश कर लूँगा।

ज्योति०—महाशय, यह आपने क्या रख छोड़ा है। ज़मीन पर गिर पड़ा।

द०—उगालदान तो नहीं लुढ़का दिया? हाँ, वही तो है। सारा फ़र्श ख़राब हो गया।

आ०—बन्धुवर, जाकर लालटेन जला लाओ। कहाँ लाकर काल-कोठरी में डाल दिया!

द०—(घर में जाकर) अरे! यहाँ भी अँधेरा है! चिराग़ तक नहीं। सेवती, कहाँ हो?

से०—बैठी तो हूँ।

द०—यह बात क्या है? चिराग़ क्यों नहीं जले? तबीयत तो अच्छी है?

से०—बहुत अच्छी है। वारे, तुम आ तो गये! मैंने समझा था कि आज आपका दर्शन ही न होगा।

द०—ज्वर है क्या ? कबसे आया है ?

से०—नहीं, ज्वर-स्वर कुछ नहीं, चैन से बैठी हूँ।

द०—तुम्हारा पुराना बायगोला तो नहीं उभर आया ?

से०—(व्यंग्य से) हाँ, बायगोला ही तो है। लाओ, कोई दवा है ?

द०—अभी डाक्टर के यहाँ से मँगवाता हूँ।

से०—कुछ मुफ्त की रकम हाथ आ गयी है क्या ? लाओ, मुझे दे दो, अच्छी हो जाऊँ।

द०—तुम तो हँसी कर रही हो। साफ़-साफ़ कोई बात नहीं कहतीं। क्या मेरे देर से आने का यही दण्ड है ? मैंने नौ बजे आने का वचन दिया था। शायद दो-चार मिनट अधिक हुए हों। सब चीजें तैयार हैं न ?

से०—हाँ, बहुत ही खस्ता। आधो आध मक्खन डाला था।

द०—आनन्दमोहन से मैंने तुम्हारी खूब प्रशंसा की है।

से०—ईश्वर ने चाहा तो वे भी प्रशंसा ही करेंगे। पानी रख आओ, हाथ-वाथ तो धोयें।

द०—चटनियाँ भी बनवा ली हैं न ? आनन्दमोहन को चटनियों से बहुत प्रेम है।

से०— खूब चटनी खिलाओ। सेरों बना रखी है।

द०—पानी में केवड़ा डाल दिया है ?

से०—हाँ, ले जाकर पानी रख आओ। पीना आरम्भ करें, प्यास लगी होगी।

आ०—(बाहर से) मित्र, शीघ्र आओ। अब इन्तजार करने की शक्ति नहीं है।

द०—जल्दी मचा रहा है। लाओ, थालियाँ परसो।

से०—पहले चटनी और पानी तो रख आओ।

द०—(रसोई में जाकर) अरे ! यहाँ तो चूल्हा बिलकुल ठंडा पड़ा गया है। महरी आज सबेरे ही काम कर गई क्या ?

से०—हाँ, खाना पकने से पहले ही आ गई थी।

द०—बर्तन सब मजे हुए रखे हैं। क्या कुछ पकाया ही नहीं !

से०—भूत-प्रेत आकर खा गये होंगे।

द०—क्या चूल्हा ही नहीं जलाया ? ग़ज़ब कर दिया।

से०—ग़ज़ब मैंने कर दिया या तुमने ?

द०—मैंने तो सब सामान लाकर रख दिया था। तुमसे बार-बार पूछ लिया था कि यदि किसी चीज़ की कमी हो तो बतलाओ। फिर खाना क्यों न पका ? क्या विचित्र रहस्य है ! भला मैं इन दोनों को क्या मुँह दिखाऊँगा।

आ०—मित्र, क्या तुम अकेले हो सब सामग्री चट कर रहे हो ? इधर भी लोग आशा लगाये बैठे हैं। इन्तज़ार दम तोड़ रहा है।

से०—यदि सब सामग्री लाकर रख ही देते तो मुझे बनाने में क्या आपत्ति थी ?

द०—अच्छा, यदि दो-एक वस्तुओं की कमी ही रह गई थी, तो इसका क्या अभिप्राय कि चूल्हा ही न जले ? यह तो किसी अपराध का दण्ड दिया है। आज होली का दिन और यहाँ आग ही न जली !

से०—जब तक ऐसे चरके न खाओगे- तुम्हारी आँखें न खुलेंगी।

द०—तुम तो पहेलियों से बातें कर रही हो। आख़िर किस बात पर अप्रसन्न हो ? मैंने कौन-सा अपराध किया है ? जब मैं यहाँ से जाने लगा था, तुम प्रसन्नमुख थीं और इसके पहले भी मैंने तुम्हें दुखी नहीं देखा था। तो मेरी अनुपस्थिति में कौन ऐसी बात हो गयी कि तुम इतनी रूठ गयी ?

से०—घर में स्त्रियों को क़ैद करने का यह दण्ड है।

द०—अच्छा, तो यह इस अपराध का दण्ड है ? मगर तुमने मुझसे परदे की निन्दा नहीं की। बल्कि इस विषय पर जब कोई बात छिड़ती थी तो तुम मेरे विचारों से सहमत हो रहती थीं। मुझे आज ही ज्ञात हुआ है कि तुम्हें परदे से इतनी घृणा है ! क्या दोनों अतिथियों से यह कह दूँ कि परदे की सहायता के दण्ड में मेरे यहाँ अनशनव्रत है, आप लोग ठण्डी-ठण्डी हवा खायें !

से०—जो चीज़ें तैयार हैं वह जाकर खिलाओ और जो नहीं हैं, उसके लिए क्षमा माँगो।

द०—मैं तो कोई चीज़ तैयार नहीं देखता !

से०—हैं क्यों नहीं, चटनी बना ही डाली है और पानी भी पहले से तैयार है।

द०—यह दिल्लगी तो हो चुकी। सचमुच बतलाओ, खाना क्यों नहीं पकाया? क्या तबीयत खराब हो गई थी, अथवा किसी कुत्ते ने रसोई आकर अपवित्र कर दी थी?

आ०—बाहर क्यों नहीं आते हो भाई, भीतर ही भीतर क्या मिसकौट कर रहे हो? अगर सब चीजें नहीं तैयार हैं, नहीं सही। जो कुछ तैयार हो वही लाओ। इस समय तो सादी पूरियाँ भी खस्ते से अधिक स्वादिष्ट जान पड़ेंगी। कुछ लाओ, भला श्रीगणेश तो हो। मुझसे अधिक उत्सुक मेरे मित्र मुंशी ज्योतिस्वरूप हैं।

से०—भैया ने दावत के इन्तजार में आज दोपहर को भी खाना न खाया होगा।

द०—बात क्यों टालती हो, मेरी बातों का जवाब क्यों नहीं देतीं?

से०—नहीं जवाब देती, क्या कुछ आपका कर्ज खाया है या रसोई बनाने के लिए लौंडी हूँ?

द०—यदि मैं घर का काम करके अपने को दास नहीं समझता तो तुम घर का काम करके अपने को दासी क्यों समझती हो!

से०—मैं नहीं समझती, तुम समझते हो।

द०—क्रोध मुझे आना चाहिये, उल्टी तुम बिगड़ रही हो।

से०—तुम्हें क्यों मुझपर क्रोध आना चाहिए? इसलिए कि तुम पुरुष हो?

द०—नहीं, इसलिए कि तुमने आज मुझे मेरे मित्रों तथा सम्बन्धियों के सम्मुख नीचा दिखाया।

से०—नीचा दिखाया तुमने मुझे कि मैंने तुम्हें? तुम तो किसी प्रकार क्षमा करा लोगे, किन्तु कालिमा तो मेरे मुख लगेगी।

आ०—भई, अपराध क्षमा हो मैं भी वहीं आता हूँ। यहाँ तो किसी पदार्थ की सुगन्ध तक नहीं आती।

द०—क्षमा क्या करा लूँगा, लाचार होकर बहाना करना पड़ेगा।

से०—चटनी खिलाकर पानी पिलाओ। इतना सत्कार बहुत है। होली का दिन है, यह भी एक प्रहसन रहेगा।

द०—प्रहसन क्या रहेगा, कहीं मुख दिखाने योग्य न रहूँगा। आख़िर तुम्हें यह क्या शरारत सूझी?

से०—फिर वही बात! शरारत क्यों सूझती! क्या तुमसे और तुम्हारे मित्रों से कोई बदला लेना था। लेकिन जब लाचार हो गयी तो क्या करती? तुम तो दस मिनट पछताकर और मुझ पर अपना क्रोध मिटाकर आनन्द से सोओगे। यहाँ तो मैं तीन बजे से बैठी झींक रही हूँ। और यह सब तुम्हारी करतूत है।

द०—यही तो पूछता हूँ कि मैंने क्या किया?

से०—तुमने मुझे पिंजरे में बन्द कर दिया, पर काट दिये! मेरे सामने दाना रख दो तो खाऊँ, मुषिया में पानी डाल दो तो पीऊँ, यह किसका क़सूर है?

द०—भाई, छिपी-छिपी बातें न करो। साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहतीं!

आ०—विदा होता हूँ, मौज उड़ाइए। नहीं, बाजार की दूकानें भी बन्द हो जायँगी। खूब चमका दिया मित्र, फिर समझेंगे। लाला ज्योतिस्वरूप तो बैठे-बैठे अपनी निराशा को खर्राटों से भुला रहे हैं। मुझे यह सन्तोष कहाँ! तारे भी नहीं हैं कि बैठकर उन्हें ही गिनूँ। इस समय तो स्वादिष्ट पदार्थों का स्मरण कर रहा हूँ।

द०—बन्धुवर, दो मिनट और सतोष करो। आया। हाँ! लाला ज्योतिस्वरूप से कह दो कि किसी हलवाई की दूकान से पूरियाँ ले आयें। यहाँ कम पड़ गयी हैं। आज दोपहर ही से इनकी तबीयत ख़राब हो गयी है। मेरे मेज की दराज़ में रुपये रखे हुए हैं।

से०—साफ़ साफ़ तो यही है कि तुम्हारे परदे ने मुझे पंगुल बना दिया है। कोई मेरा गला भी घोट जाय तो फरियाद नहीं कर सकती।

द०—फिर भी वही अन्योक्ति! इस विषय का अन्त भी होगा या नहीं?

से०—दियासलाई तो थी ही नहीं, फिर आग कैसे जलाती!

द०—अहा! मैंने जाते समय दियासलाई की डिबिया जेब में रख ली।

थी • जरा सी बात का तुमने इतना बतगड़ बना दिया। शायद मुझे तंग करने के लिए अवसर ढूँढ़ रही थीं। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है।

से०—यह तुम्हारी ज्यादती है। ज्यों ही तुम सीढ़ी से उतरे, मेरी दृष्टि डिबिया की तरफ़ गयी, किन्तु वह लापता थी। ताड़ गयी कि तुम ले गये। तुम मुश्किल से दरवाजे तक पहुँचे होगे। अगर जोर से पुकारती तो तुम सुन लेते। लेकिन नीचे दूकानदारों के कान में भी आवाज जाती तो सुनकर तुम न जाने मेरी कौन-कौन दुर्दशा करते। हाथ मल कर रह गयी। उसी समय से बहुत व्याकुल हो रही हूँ कि किसी प्रकार भी दियासलाई मिल जाती तो अच्छा होता। मगर कोई वश न चलता था। अन्त में लाचार होकर बैठ रही।

द०—यह कहो कि तुम मुझे तग करना चाहती थीं। नहीं तो क्या आग या दियासलाई न मिल जाती?

से०—अच्छा, तुम मेरी जगह होते तो क्या करते? नीचे सब के-सब दूकानदार हैं। और तुम्हारी जान-पहचान के हैं। घर के एक ओर पण्डितजी रहते हैं। इनके घर में कोई स्त्री नहीं। सारे दिन फाग हुई है। बाहर के सैकड़ों आदमी जमा थे। दूसरी ओर बंगाली बाबू रहते हैं। उनके घर की स्त्रियाँ किसी संबन्धी से मिलने गयी हैं और अब तक नहीं आयीं। इन दोनों से भी बिना छज्जे पर आये चीज न मिल सकती थी। लेकिन शायद तुम इतनी बेपर्दगी को क्षमा न करते। और कौन ऐसा था जिससे कहती कि कहीं से आग ला दो। महरी तुम्हारे सामने ही चौका-बर्तन करके चली गई थी। रह-रहकर तुम्हारे ही ऊपर क्रोध आता था।

द०—तुम्हारी लाचारी का कुछ अनुमान कर सकता हूँ, पर मुझे अब भी यह मानने में आपत्ति है कि दियासलाई का न होना चूल्हा न जलने का वास्तविक कारण हो सकता है।

से०—तुम्हीं से पूछती हूँ कि बतलाओ, क्या करती?

द०—मेरा मन इस समय स्थिर नहीं, किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि मैं तुम्हारे स्थान पर होता तो होली के दिन और खासकर जब अतिथि भी उपस्थित हों, चूल्हा ठण्डा न रहता। कोई न कोई उपाय अवश्य ही निकालता।

से०—जैसे?

द०—एक रुक्का लिखकर किसी दूकानदार के सामने फेंक देता।

से०—यदि मैं ऐसा करती तो शायद तुम आँख मिलाने का मुझ पर कलंक लगाते।

द०—अँधेरा हो जाने पर सिर से पैर तक चादर ओढ़कर बाहर निकल जाता और दियासलाई ले आता। घण्टे-दो घण्टे में अवश्य ही कुछ न कुछ तैयार हो जाता। ऐसा उपवास तो न करना पड़ता।

से०—बाजार जाने से मुझे तुम गली गली घूमनेवाली कहते और गला काटने पर उतारू हो जाते। तुमने मुझे कभी इतनी स्वतंत्रता नहीं दी। यदि कभी स्नान करने जाती हूँ तो गाड़ी का पट बन्द रहता है।

द०—अच्छा, तुम जीतीं और मैं हारा। सदैव के लिए उपदेश मिल गया कि ऐसे अत्यावश्यक समय पर तुम्हें घर से बाहर निकलने की स्वतन्त्रता है।

से०—मैं तो इसे आकस्मिक समय नहीं कहती। आकस्मिक समय तो वह है कि दैवात् घर में कोई बीमार हो जाय और उसे डाक्टर के यहाँ ले जाना आवश्यक हो।

द०—निस्सन्देह वह समय आकस्मिक है। इस दशा में तुम्हारे जाने में कोई हस्तक्षेप नहीं।

से०—और भी आकस्मिक समय गिनाऊँ?

द०—नहीं भाई, इसका फैसला तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।

आ०—मित्र, सन्तोष की सीमा तो अन्त हो गई, अब प्राण-पीड़ा हो रही है। ईश्वर करे, घर आबाद रहे, विदा होता हूँ।

द०—बस, एक मिनट और, उपस्थित हुआ।

से०—चटनी और पानी लेते जाओ और पूरियाँ बाजार से मँगवा लो। इसके सिवा इस समय हो ही क्या सकता है?

द०—(मरदाने कमरे में आकर) पानी लाया हूँ, प्यालियों में चटनी है। आप लोग जब तक भोग लगावें। मैं अभी आता हूँ।

आ०—धन्य है ईश्वर! भला तुम बाहर तो निकले! मैंने तो समझा था कि एकान्तवास करने लगे। मगर निकले भी तो चटनियाँ लेकर। वह स्वादिष्ट

वस्तुएँ क्या हुईं जिनका आपने वादा किया था और जिनका स्मरण मैं प्रेमानुरक्त भाव से कर रहा हूँ ?

द०—ज्योतिस्वरूप कहाँ गये ?

आ०—ऊर्ध्व ससार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्‌भुत उदासीन मनुष्य है कि आते ही आते सो गया। और अभी तक नहीं चौंका।

द०—मेरे यहाँ एक नयी दुर्घटना हो गयी। उसे और क्या कहूँ। सब सामान मौजूद और चूल्हे में आग न जली।

आ०—ख़ूब ! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।

द०—घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही दिन हुए कि गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गयी थी। दियासलाई न थी।

आ०—(अट्टहास कर) वाह ! यह अच्छा प्रहसन हुआ। थोड़ी सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम से-कम मेरी तो वधिया बैठ गयी।

द०—क्या कहूँ मित्र, अत्यन्त लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता हूँ। आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोडी प्रथा के बन्धन ने ठीक होली के दिन ऐसा विश्वासघात किया कि जिसकी कभी भी सभावना न थी। अच्छा अब बतलाओ, बाजार से लाऊँ पूरियाँ ? अभी तो ताजी मिल जायँगी।

आ०—बाजार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो। जाकर बोर्डिङ्ग हाउस में खा लूँगा। रहे ये महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। पड़े-पड़े खर्राटे लेने दो। प्रात काल चौंकेंगे तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।

द०—तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ ! मजे ले-लेकर समोसे और कोफ़ते खाते और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। ईश्वर ने चाहा तो शीघ्र ही इसका प्रायश्चित करूँगा।

आ०—मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धान्त टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभीजी को धन्यवाद दे आऊँ।

द०—शौक़ से जाओ।

आ०—(भीतर जाकर) भाभीजी साष्टाग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के अकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई, किन्तु वह उस

आनन्द के सामने शून्य है जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की है वह लाखों प्रमाणिक प्रमाणों से भी सम्भव नहीं है। इसके लिए मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अबसे बन्धुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।

(पटाक्षेप)

वस्तुएँ क्या हुईं जिनका आपने वादा किया था और जिनका स्मरण मैं प्रेमा-नुरक्त भाव से कर रहा हूँ ?

द०—ज्योतिस्वरूप कहाँ गये ?

आ०—ऊर्ध्व संसार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्‌भुत उदासीन मनुष्य है कि आते ही आते सो गया। और अभी तक नहीं चौंका।

द०—मेरे यहाँ एक नयी दुर्घटना हो गयी। उसे और क्या कहूँ। सब सामान मौजूद और चूल्हे में आग न जली।

आ०— खूब ! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।

द०—घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही दिन हुए कि गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गयी थी। दियासलाई न थी।

आ०—(अट्टहास कर) वाह ! यह अच्छा प्रहसन हुआ। थोड़ी सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम-से-कम मेरी तो बधिया बैठ गयी।

द०—क्या कहूँ मित्र, अत्यन्त लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता हूँ। आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोड़ी प्रथा के बन्धन ने ठीक होली के दिन ऐसा विश्वासघात किया कि जिसकी कभी भी संभावना न थी। अच्छा अब बतलाओ, बाजार से लाऊँ पूरियाँ ? अभी तो ताजी मिल जायँगी।

आ०—बाजार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो। जाकर बोर्डिङ्ग हाउस में खा लूँगा। रहे ये महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। पड़े-पड़े खर्राटे लेने दो। प्रातःकाल चौंकेंगे तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।

द०—तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ ! मजे ले-लेकर समोसे और कोफ्ते खाते और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। ईश्वर ने चाहा तो शीघ्र ही इसका प्रायश्चित करूँगा।

आ०—मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धान्त टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभीजी को धन्यवाद दे आऊँ।

द०—शौक़ से आओ।

आ०—(भीतर जाकर) भाभीजी साष्टांग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के अकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई, किन्तु वह उस

आनन्द के सामने शून्य है जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की है वह लाखों प्रमाणिक प्रमाणों से भी सम्भव नहीं है। इसके लिए मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अबसे बन्धुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।

(पटाक्षेप)

वस्तुएँ क्या हुई जिनका आपने वादा किया था और जिनका स्मरण मैं प्रेमानुरक्त भाव से कर रहा हूँ ?

द०—ज्योतिस्वरूप कहाँ गये ?

आ०—ऊर्ध्व ससार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्भुत उदासीन मनुष्य है कि आते ही आते सो गया। और अभी तक नहीं चौंका।

द०—मेरे यहाँ एक नयी दुर्घटना हो गयी। उसे और क्या कहूँ। सब सामान मौजूद और चूल्हे में आग न जली।

आ०—ख़ूब! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।

द०—घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही दिन हुए कि गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गयी थी। दियासलाई न थी।

आ०—(अट्टहास कर) वाह! यह अच्छा प्रहसन हुआ। थोड़ी सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम-से-कम मेरी तो बधिया बैठ गयी।

द०—क्या कहूँ मित्र, अत्यन्त लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता हूँ। आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोडी प्रथा के बन्धन ने ठीक होली के दिन ऐसा विश्वासघात किया कि जिसकी कभी भी सभावना न थी। अच्छा अब बतलाओ, बाजार से लाऊँ पूरियाँ? अभी तो ताजी मिल जायँगी।

आ०—बाजार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो। जाकर बोर्डिङ्ग हाउस में खा लूँगा। रहे ये महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। पड़े-पड़े खर्राटे लेने दो। प्रात काल चौंकेगे तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।

द०—तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ! मजे ले-लेकर समोसे और कोफ्ते खाते और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। ईश्वर ने चाहा तो शीघ्र ही इसका प्रायश्चित करूँगा।

आ०—मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धान्त टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभीजी को धन्यवाद दे आऊँ।

द०—शौक़ से जाओ।

आ०—(भीतर जाकर) भाभीजी साष्टाग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के अकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई, किन्तु वह उस

आनन्द के सामने शून्य है जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की है वह लाखों प्रमाणिक प्रमाणों से भी सम्भव नहीं है। इसके लिए मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अबसे बन्धुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।

(पटाक्षेप)